इकाई–3.

वित्तीय प्रस्तावों पर निर्णयन– विनियोग निर्णयों की प्रकृति, विनियोग मूल्यांकन मानदण्ड, पे–बैक पीरियड, शुद्ध वर्तमान मूल्य, आन्तरिक प्रत्याय दर, लाभदायकता निर्देशांक, शुद्ध वर्तमान मूल्य व आन्तरिक प्रत्याय दर की तुलना।

इकाई–4.

पूँजी की लागत– पूँजी की लागत का महत्व, ऋण लागत की गणना, पूर्वाधिकार अंश. समता पूँजी, प्रति अर्जन, भारित औसत पूँजी की लागत, लाभांश नीतियाँ, लाभांश के प्रकार, लाभांश में स्थायित्व एवं लाभांश के निर्धारक तत्व, लाभांश नीतियाँ निर्गमन में वाल्टर मॉडल, गोर्डन मॉडल, एम.एम. परिकल्पना।

इकाई–5.

कार्यशील पूँजी का प्रबंध– कार्यशील पूँजी की प्रकृति, प्रकार एवं महत्व, परिचालन चक्र व कार्यशील पूँजी की आवश्यकताओं को प्रभावित करने वाले तत्व, कार्यशील पूँजी का प्रबंध, रोकड़ का प्रबंध, प्राप्यों का प्रबंध, स्कंध का प्रबंध।

वित्तीय प्रबन्ध

इकाई 1

प्रश्न–1. वित्त–कार्य से आपका क्या आशय है? वित्त–कार्य के सम्बन्ध में विभिन्न अवधारणाओं की व्याख्या कीजिये।

अथवा

वित्त–कार्य से आप क्या समझते हैं? वित्त–कार्य की प्रकृति की विवेचना कीजिये।

अथवा

वित्त–कार्य की परिभाषा दीजिये। वित्त–कार्य की प्रकृति एवं क्षेत्र की व्याख्या कीजिये।

अथवा

वित्तीय कार्यों से आप क्या समझते हैं? विभिन्न वित्तीय कार्यों का वर्णन कीजिये।

उत्तर– वित्त आधुनिक औद्योगिक अर्थव्यवस्था का जीवन–रक्त है। किसी देश की आर्थिक एवं व्यावसायिक गतिविधियों को एक सूत्र में बाँधने वाला शक्तिशाली साधन है। सुदृढ़ वित्तीय–व्यवस्था आर्थिक एवं व्यावसायिक सफलता का मूल–मंत्र है। वास्तव में वित्त ही व्यवसाय का आधार है।

वित्त–कार्य का अर्थ– पुरानी विचारधारा के अनुसार, वित्त–कार्य से आशय किसी भी व्यावसायिक संस्था के लिये वित्त की व्यवस्था करने से है। परन्तु आधुनिक विचारधारा के अनुसार वित्त–कार्य में व्यवसाय के लिये न केवल समुचित पूँजी की व्यवस्था करनी होती है

बल्कि यह भी देखना होता है कि उसका उपयोग समुचित एवं प्रभावी ढग से हो रहा है अथवा नहीं?

वित्त–कार्य की परम्परागत विचारधारा– वित्त–कार्य की परम्परागत विचारधारा का विकास इस शताब्दी की शुरूआत के साथ हुआ, जो कि इस शताब्दी के पाँचवे दशक तक प्रचलित रही। परम्परागत विचारधारा के अनुसार वित्त–कार्य से आशय व्यवसाय के लिये आवश्यक कोषो, अर्थात् पूँजी की व्यवस्था करने से है। इस विचारधारा के अनुसार वित्त–कार्य केवल पूंजी का संग्रह करने तक ही सीमित है जिससे उपक्रम को धन की कमी का सामना न करना पड़े। इस दृष्टि से वित्तीय प्रबन्धक का प्रमुख कार्य केवल यह देखना है कि उपक्रम अपने दायित्वों के भुगतान के लिये पर्याप्त तरलता रखता है या नहीं? इस प्रकार परम्परागत विचारधारा में वित्त–कार्य के अन्तर्गत पूँजी अथवा कोषों के संग्रहण को सबसे ज्यादा महत्व दिया जाता है।

वित्त–कार्य की आधुनिक विचारधारा– वित्त–कार्य की आधुनिक विचारधारा के अनुसार वित्त का कार्य केवल कोषों के संग्रह करने तक ही सीमित नहीं है बल्कि इससे कहीं अधिक व्यापक है। व्यवसाय के उद्देश्य की पूर्ति के लिये कोषों का प्रभावपूर्ण उपयोग करना वित्त के कार्यक्षेत्रों में ही शामिल किया जाता है। नई विचारधारा के अनुसार वित्तीय प्रबन्धकों का दायित्व केवल कोषों अथवा पूँजी का संग्रह करना ही नहीं बल्कि पूँजी का व्यापार में प्रभावपूर्ण एवं कुशलतम उपयोग करना भी है।

वित्त–कार्य की कुछ प्रमुख परिभाषायें निम्नलिखित हैं–

1. **आर.सी. ओसबोर्न** के शब्दों में– 'वित्त–कार्य कोषों को प्राप्त करने तथा उनका प्रयोग करने की प्रक्रिया है।'
2. **गुथमेन और डूगल** के अनुसार– 'किसी व्यवसाय में उपयोग होने वाले कोषों का विनियोजन करना, उन्हें प्राप्त करना, नियंत्रित करना तथा उन्हें प्रशासित करना ही वित्त–कार्य है।'
3. **सोलोमन इजरा** के अनुसार–''परम्परागत व्याख्या के अनुसार कोषों के साधनों पर अधिक बल दिया जाता था जिसका सम्बन्ध अधिकांशतः विशिष्ट प्रक्रियात्मक विवरण से होता है। अब नवीन व्यापक विचारधारा के अनुसार कोषों के अनुकूलतम संचालन, उपयोग एवं आबंटन की दिशा में विवेकपूर्ण नीति के निर्धारण पर अधिक बल दिया जाता है।''
4. **जे. एल. मैसी** के अनुसार– ''वित्त–कार्य (वित्तीय–प्रबन्ध) व्यवसाय की वह संचालनात्मक प्रक्रिया है जो कुशल संचालन के लिये आवश्यक वित्त को प्राप्त करने तथा उसका प्रभावशाली ढंग से उपयोग करने के लिये उत्तरदायी होती है।''

अति आधुनिक रूप में वित्त का कार्य उच्च–स्तर पर नीति–निर्धारिण एवं प्रबन्धकीय निश्चयीकरण से अधिक जुड़ गया है। इसके अन्तर्गत कोषों के अनुकूलतम उपयोग की दशा में विवेकपूर्ण निर्णय लिये जा सकते हैं। इस सन्दर्भ में दीर्घकालीन वित्तीय–नियोजन, कोषों के वैकल्पिक उपयोगों का मूल्यांकन, पूँजी बजटिंग, व्यवसाय की वित्तीय सफलता के मापदण्डों का निर्धारण पूँजी लागत तथा कार्यशील पूँजी के प्रबन्ध आदि इस विषय के प्रमुख अंग बन गये हैं।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि वित्त–कार्य से आशय उन समस्त क्रियाओं से है जो व्यवसाय के लिये वित्त को प्राप्त करने, उपयोग करने, आबंटन करने तथा नियंत्रण करने के लिये की जाती हैं।

वित्त–कार्य के उद्देश्य– वित्त–कार्य के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

निम्नलिखित पक्ष वित्त–कार्य के अध्ययन से लाभान्वित होते हैं–

1. **व्यवसाय की स्थापना–** किसी भी व्यवसाय की स्थापना करने के पूर्व प्रारम्भिक अनुसंधान एवं जाँच–पड़ताल कराने, व्यवसाय का पंजीयन कराने हेतु धन की आवश्यकता होती है। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये वित्त की व्यवस्था की जाती है।
2. **स्थायी सम्पत्ति के क्रय के लिये–** जब किसी व्यवसाय की स्थापना की जाती है तो भूमि, भवन, संयंत्र आदि स्थायी सम्पत्ति को क्रय करने हेतु वित्त की आवश्यकता पड़ती है। यह वित्त–कार्य का प्रमुख स्रोत है।
3. **कार्यशील पूँजी–** व्यवसाय में स्थायी सम्पत्तियों में धन के विनियोजन के बाद व्यवसाय को चालू रखने के लिये धन की आवश्यकता होती है। जैसे– कच्चा माल खरीदने के लिये, कर्मचारियों को वेतन चुकाने हेतु आदि। यह पूँजी हमेशा प्रवाह में रहती है।
4. **लाभ को अधिकतम करना–** वित्त–कार्य का उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना होता है ताकि स्वामियों को उनकी विनियोजित पूँजी पर अधिकतम प्रतिफल मिल सके।
5. **मूल्यों को अधिकतम करना–** अमेरिका के वित्त–प्रबन्ध के विशेषज्ञ **प्रो. सोलोमन एजरा** एक व्यवसाय के वित्तीय–प्रबन्ध का उद्देश्य उसके मूल्य को अधिकतम करना मानते हैं। अतः वित्तीय प्रबन्धक का यह उत्तरदायित्व है कि वह ऐसा कार्य करे जिससे उपक्रम की सम्पत्ति के मूल्य में वृद्धि हो।

वित्त–कार्य अथवा वित्तीय प्रबन्ध की प्रकृति– आधुनिक विचार ने वित्त–कार्य अथवा वित्तीय प्रबन्ध की भूमिका को व्यावसायिक प्रबन्ध के क्षेत्र में अति महत्वपूर्ण बना दिया है। अब वित्त–कार्य में कोषों की व्यवस्था करने के साथ–साथ इनका विवेकपूर्ण उपयोग करने का दायित्व भी आ गया है। इसी विचारधारा के आधार पर वित्तीय प्रबन्ध अथवा वित्तीय कार्य की प्रकृति अथवा विशेषताओं को निम्न बिन्दुओं के आधार पर किया जा सकता है–

1. **व्यावसायिक प्रबन्ध का अभिन्न अंग–** वित्तीय प्रबन्ध व्यावसायिक प्रबन्ध का अभिन्न अंग होता है। यदि इसे प्रबन्ध का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग माना जाये तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी, क्योंकि प्रारम्भ से अन्त तक व्यवसाय के संगठन एवं संचालन में वित्त का सर्वोपरि महत्व होता है। व्यवसाय की प्रत्येक क्रिया के साथ धन का सम्बन्ध जुड़ा होता है।

2. **सतत् प्रशासनिक कार्य–** वित्त–कार्य एक सतत् प्रशासनिक क्रिया है, क्योंकि वर्तमान समय में व्यवसाय के सफल संचालन के लिये कोषों के संग्रहण एवं उनके विवेकपूर्ण उपयोग का दायित्व भी उसके कार्य क्षेत्र में आता है। इसे पूँजी बजटन के साथ–साथ कार्यशील पूँजी के प्रबन्ध का भी कार्य सम्पन्न करना होता है, जो कि एक विशाल उपक्रम के वित्तीय प्रबन्धक के लिये निरन्तर बना रहने वाला सिरदर्द है।

3. **वैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक–** वर्तमान स्वरूप में वित्त–कार्य वर्णनात्मक कम तथा वैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक अधिक है। आज विभिन्न वित्तीय निर्णय लेते समय वित्तीय विश्लेषण एवं विभिन्न विकल्पों के मूल्यांकन हेतु आधुनिक गणितीय एवं सांख्यिकीय विधियों का प्रयोग किया जाता है। इसीलिये कोहेन एवं रोविन्स ने वित्तीय प्रबन्ध को कला एवं विज्ञान दोनों माना है।

4. **केन्द्रीयकृत प्रकृति–** प्रबन्ध के समस्त कार्यकारी क्षेत्रों में वित्तीय प्रबन्ध या वित्त–कार्य ही मूलतः केन्द्रीयकृत स्वभाव का होता है। व्यवसाय में वित्त–कार्य की तुलना मानव शरीर के

हृदय संस्थान से भी की जा सकती है, जिसकी मूल प्रकृति ही केन्द्रीयकृत है। वित्तीय समन्वय एवं नियन्त्रण की स्थिति केन्द्रीयकरण के द्वारा ही स्थापित की जा सकती है।

5. **लेखांकन कार्य से भिन्न–** वित्त–कार्य लेखांकन कार्य से भिन्न है। मूल रूप से लेखांकन कार्य समंक संग्रहण से है, जबकि वित्त–कार्य निर्णयन के लिये समंक के विश्लेषण से सम्बन्धित है।

6. **व्यापक क्षेत्र–** वित्तीय प्रबन्ध का क्षेत्र व्यापक एवं जटिल है। उसके कार्यक्षेत्र में उपक्रम की अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु कोषों की प्राप्ति, कोषों का उचित आवंटन एवं उनका अनुकूलतम उपयोग भी आता है। इसके अतिरिक्त यह लेखांकन, पूँजी बजटन, अंकेक्षण लागत नियन्त्रण, रोकड़ व साख प्रबन्ध तथा अन्य दैनिक व्यवहारों के लिये उत्तरदायी होता है।

7. **निर्णयन का केन्द्र बिन्दु–** आधुनिक समय में निर्णयन का आधार वैज्ञानिक वित्तीय विश्लेषण है। वित्तीय प्रबन्धक उपक्रम की वित्तीय स्थिति तथा किसी निर्धारित अवधि में उसके कार्यों की प्रगति के विषय में महत्वपूर्ण तथ्यों एवं आकड़ों का विश्लेषण करके वित्तीय प्रतिवेदन के रूप में प्रबन्धकों के समक्ष प्रस्तुत करता है। इससे उन्हें सुदृढ़ निर्णय लेने में सहायता मिलती है।

8. **कार्य निष्पत्ति का मापदण्ड–** व्यवसाय का प्रमुख उद्देश्य लाभ कमाना होता है। अतः आज भी उपक्रम के विभिन्न कार्यों की निष्पत्ति एवं व्यवसाय की सफलता का मूल्यांकन वित्तीय परिणामों द्वारा मापा जाता है। वित्त लाभदायकता व जोखिम में सन्तुलन स्थापित करता है।

9. **नियोजन, समन्वय एवं नियन्त्रण का आधार–** वित्तीय प्रबन्ध उपक्रम में नियोजन, समन्वय एवं नियन्त्रण हेतु आधार प्रस्तुत करता है। नियोजन का उद्देश्य कोषों का प्रभावपूर्ण उपयोग होता है।

10. **सभी प्रकार के संगठनों में लागू–** वित्तीय प्रबन्ध सभी प्रकार के निर्माणी तथा सेवा संगठनों में लागू होता है, चाहे उनका आकार, प्रकृति, स्वामित्व व नियन्त्रण कैसा भी हो। **रेमण्ड चेम्बर्स** के अनुसार, "वित्तीय प्रबन्ध किसी भी प्रकार के उपक्रम या संगठन में लागू किया जा सकता है, चाहे इसके उद्देश्य या संविधान कैसा भी हो।"

वित्त–कार्य का क्षेत्र– वित्त–कार्य की विचारधारा में परिवर्तन होने के साथ–साथ वित्त–कार्य के क्षेत्र में भी गत कुछ वर्षों में काफी परिवर्तन हुआ है।

कार्य के अन्तर्गत वर्तमान में निम्नलिखित वित्त को सम्मिलित किया जाता है–

(1) वित्तीय नियोजन– वित्तीय नियोजन वित्त–कार्य का ही एक अंग है। वित्तीय नियोजन का सम्बन्ध वित्त के कार्य से सम्बन्धित– (i) उद्देश्यों का निर्धारण, (ii) नीतियों का निर्धारण, (iii) कार्य–विधियो का निर्धारण, तथा (iv) वित्तीय–योजना के निर्माण से है।

वित्तीय–योजना में निम्नलिखित दो प्रमुख विषय समाविष्ट हैं– (अ) व्यवसाय के लिये पूँजी या धन की कुल आवश्यकताओं का अनुमान लगाना, जिसे पूँजीकरण कहते हैं। (ब) यह निर्धारित करना की पूँजी किन–किन स्त्रोतों से और किस प्रकार एकत्रित की जायेगी? दूसरे शब्दों में, यह सुनिश्चित करना कि कितनी पूँजी व्यवसाय के स्वामी स्वयं लगायेंगे तथा कितनी ऋणों के रूप में एकत्रित की जायेगी? इसे पूँजी–संरचना (Capital Structure) कहते हैं।

(2) पूँजी की प्राप्ति करना– पूँजी की प्राप्ति करना भी वित्त–कार्य का ही एक अंग है। इसके लिये पूँजी बाजार से सम्पर्क स्थापित करना, प्रतिभूतियाँ निर्गमित करने का समय निश्चित करना आवश्यक समझौते करना, वास्तविक रूप में पूँजी निर्गमित करना तथा पूँजी प्राप्ति के सम्बन्ध में अन्य कार्य करने पड़ते हैं।

(3) धन का उपयोग– पूँजी एकत्रित हो जाने के बाद उसके उपयोग करने का सवाल उठता है। इसके अन्तर्गत पूँजी बजट तैयार करना, लाभांश–नीति निर्धारित करना तथा वित्तीय समायोजन आदि कार्यों को शामिल करते हैं।

(4) वित्तीय–नियंत्रण– वित्तीय कार्यकलापों का विश्लेषण तथा मूल्यांकन करना वित्त–कार्य का ही प्रमुख अंग है। इसमें वित्तीय–प्रतिवेदन तैयार करना, वित्तीय विवरणों का विश्लेषण करना, वित्तीय–नियोजन से विचलनों के कारणों को मालूम करके आवश्यक कार्यवाहियाँ करना आदि कार्य शामिल हैं।

(5) विविध– यह वित्त–कार्य के क्षेत्र का अंतिम अंग है इसमें निम्नलिखित को शामिल करते हैं–

(i) रोकड़–आगमन तथा रोकड़–निर्गमन में तालमेल बैठाना।
(ii) भविष्य–निधि तथा अनुगृह राशियों आदि का भुगतान करने की व्यवस्था करना।
(iii) विभिन्न प्रकार के करों की सही समय भुगतान करने की व्यवस्था करना।
(iv) सम्पत्तियों का बीमा कराना।
(v) विकास एवं विस्तार के लिये अतिरिक्त पूँजी की व्यवस्था करना।
(vi) लाभों का निर्धारण करना।
(vii) शुद्ध लाभ का आबंटन करना आदि।

प्रश्न–2. वित्तीय प्रबन्ध से आप क्या समझते हैं? व्यवसाय प्रबन्ध में वित्तीय प्रबन्ध के योगदान की व्याख्या कीजिये।

अथवा

वित्तीय प्रबन्ध के महत्व एवं सीमाओं को स्पष्ट कीजिये।

अथवा

वित्तीय प्रबन्ध की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुये इसकी सीमाओं की विवेचना कीजिये।

अथवा

'सुदृढ़ वित्तीय प्रबन्ध निगम की सफलता की कुंजी है।' समझाइये।

अथवा

'वित्त उद्योग का जीवन रक्त है।' इस कथन की व्याख्या कीजिये।

अथवा

'वित्त समस्त व्यावसायिक क्रियाओं का आधार–स्तम्भ है।' विवेचना कीजिये।

उत्तर– वित्तीय प्रबन्ध का महत्व– व्यावसायिक उपक्रमों में वित्तीय प्रबन्ध के महत्व में पिछले 50 वर्षों में अत्यधिक वृद्धि हो गयी है। द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व प्रबन्ध की परम्परागत विचारधारा के अन्तर्गत वित्तीय प्रबन्धक का कार्य उपक्रम के लिये उचित शर्तों पर पूँजी प्राप्त करना था। लेकिन आधुनिक विचारधारा के अनुसार वित्तीय प्रबन्धक का कार्य केवल पूँजी प्राप्त करना ही नहीं है, इसके साथ ही साथ व्यवसाय में पूँजी का अनुकूलतम उपयोग करना भी है। साधारण व्यावसायिक उपक्रमों में वित्तीय प्रबन्ध का कार्य काफी आसान होता है। लेकिन निगमित व्यवसायों में वित्तीय प्रबन्ध का कार्य काफी जटिल होता है। वर्तमान में उद्योग, व्यापार, बैंकिंग, बीमा, परिवहन आदि सभी क्षेत्रों में निगमित उपक्रमों के

महत्व में वृद्धि हो रही है। निगमित उपक्रमों के प्रबन्ध में सभी अंशधारी प्रत्यक्ष रूप से भाग नही ले सकते है, इसलिये इन उपक्रमों का संचालन सामान्य अंशधारियों द्वारा चुने गये संचालक मण्डल द्वारा किया जाता है। संचालक मण्डल के निर्देशन में प्रबन्धकीय विशेषज्ञ उपक्रमों के विभिन्न कार्यों को पूरा करते हैं। उपक्रमों के सफल संचालन में वित्तीय–प्रबन्ध का महत्वपूर्ण योगदान होता है। यदि अंशधारी, संचालक तथा प्रबन्धक वित्तीय प्रबन्ध के बारे में जानकारी रखते हैं तो वे उपक्रम के कार्यों को सही दिशा प्रदान कर सकते हैं तथा उपक्रम के उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक हो सकते है। वित्तीय प्रबन्ध का महत्व निगमित उपक्रमों के लिये ही नहीं, बल्कि गैर–निगमित उपक्रमो के लिये भी बहुत होता है।

वित्त उद्योग का जीवन रक्त है। वित्त समस्त व्यावसायिक क्रियाओं का आधार–स्तम्भ है। वित्त के अभाव में न तो उपक्रम को आरम्भ किया जा सकता है और न ही उसे सफलतापूर्वक संचालित किया जा सकता है। उपक्रम की आवश्यकतानुसार पर्याप्त वित्त की व्यवस्था करना व्यावसायिक सफलता का मूल मन्त्र है। किसी भी व्यापार एवं उद्योग को चाहे यह बड़े पैमाने पर हो अथवा छोटे पैमाने पर, शुरू करने एवं उसके भावी विस्तार के लिये पर्याप्त मात्रा में वित्त की आवश्यकता होती है। वर्तमान समय मे देश की औद्योगिक उन्नति वित्त प्रबन्ध पर ही आधारित है। वित्त प्रबन्ध की उचित व्यवस्था के अभाव में अनेक औद्योगिक विकास की योजनायें केवल कागजी योजनाये बनकर रह जाती है। जिस प्रकार एक इंजिन को संचालित करने के लिये कोयले अथवा बिजली की आवश्यकता होती है, ठीक उसी प्रकार प्रत्येक व्यापार एवं उद्योग को स्थापित करने तथा संचालित करने के लिये वित्त प्रबन्ध की आवश्यकता होती है। हसबैंड एवं डोकरे ने इस सम्बन्ध में कहा है, कि "विभिन्न आर्थिक एवं व्यावसायिक गतिविधियों को एक सूत्र मे बाँधने के लिये एक ऐसे साधन की आवश्यकता होती है, जो उन्हें सुचारू रूप से निर्देशित कर सके और वित्त ही वह शक्तिशाली साधन है, जो इस कार्य को सम्पन्न करता है। इसलिये यह कहना कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी, कि वित्त समस्त व्यापार, वाणिज्य एवं उद्योग की आत्मा है।" प्रो. सोलोमन ने वित्तीय प्रबन्ध के महत्व पर प्रकाश डालते हुये कहा है, कि– "वित्तीय प्रबन्ध वर्तमान में केवल वित्तीय साधन एकत्रित करने की एक विशेषज्ञ क्रिया मात्र नही है, अपितु सम्पूर्ण प्रबन्धकीय विज्ञान का एक अभिन्न अंग बन गया है– वित्तीय प्रबन्ध संसाधन एकत्रित करने के साथ–साथ उत्पादन, विपणन और उपक्रम में प्रत्येक निर्णयात्मक क्रिया से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होता है।" इरविन फ्रैण्ड ने वित्तीय प्रबन्ध के महत्व पर प्रकाश डालते हुये कहा है, कि "एक उपक्रम की सफलता यहाँ तक कि उसका अस्तित्व, उसकी कार्यक्षमता और उत्पादन करने की इच्छा, स्थायी एवं कार्यशील पूँजी में विनियोग करने की क्षमता पर्याप्त सीमा तक उपक्रम की पूर्व एवं वर्तमान वित्तीय नीतियों द्वारा ही निर्धारित होती है।"

वित्तीय प्रबन्ध का उद्देश्य लाभों को अधिकतम करने के साथ–साथ वित्तीय साधनों का अधिकतम उपयोग करना भी होता है। वित्त एक ऐसी धुरी है, जिसके आस–पास समस्त व्यावसायिक क्रियायें चक्कर काटती है। वित्त के सफल प्रबन्ध में समस्त वर्गों तथा सम्पूर्ण उपक्रम का जीवन, विकास तथा कल्याण निर्भर है। वित्त प्रबन्ध का कार्य एक कुशल विशेषज्ञ, अनुभवी, निष्ठावान तथा उत्तरदायी व्यक्ति को सौंपा जाना चाहिये।

वित्तीय प्रबन्ध के महत्व अथवा इसकी उपयोगिता को निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है–

(1) उपक्रम की सफलता का आधार– सुदृढ़ वित्तीय प्रबन्ध उपक्रम की सफलता, अस्तित्व एवं विकास की गारंटी का संकेतक है। चाहे एक उपक्रम छोटा हो अथवा बड़ा, चाहे उपक्रम

निगमित हो अथा गैर-निगमित, चाहे उपक्रम निर्माणी हो अथवा सेवा संस्थान, उसकी सफलता वित्तीय प्रबन्ध की कुशलता पर आधारित रहती है। कुशल वित्तीय प्रबन्ध हानि में चलने वाले उपक्रम को लाभ में परिवर्तित कर सकता है, इसके साथ ही साथ अकुशल वित्तीय प्रबन्ध लाभ में चलने वाले उपक्रम को हानि में बदल सकता है, अतः उपक्रम की सफलता कुशल वित्तीय प्रबन्ध पर निर्भर करती है।

(2) साधनों का अनुकूलतम आवंटन एवं उपयोग– एक कुशल वित्त-प्रबन्ध उपक्रम के उपलब्ध साधनों का अनुकूलतम आवंटन एवं उपयोग करना सम्भव बनाता है तथा इस कार्य के द्वारा उपक्रम के सम्पदा मूल्य को अधिक बनाने में सहायक होता है। वित्तीय प्रबन्ध उपक्रम में साधनों के अनुकूलतम उपयोग पर बल देता है। **कोलीन ब्रुक्स** के अनुसार, "बुरे उत्पादन प्रबन्ध एवं बुरे विक्रय प्रबन्ध के सैकड़ों दोष होते हैं, परन्तु दोषपूर्ण वित्तीय प्रबन्ध के उपक्रम में हजारों दोष होते हैं।" वित्तीय प्रबन्ध उपक्रम के संसाधनों के अधिकतम विदोहन एवं सदुपयोग में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

(3) व्यावसायिक प्रबन्धकों के लिये उपयोगिता– वित्तीय प्रबन्ध के आधुनिक सिद्धान्तों की जानकारी के अभाव में प्रबन्धक अपने कर्तव्य का भली-भांति सम्पादन नहीं कर सकते हैं। वित्तीय प्रबन्ध विषय की सबसे अधिक उपयोगिता व्यावसायिक प्रबन्ध के क्षेत्र में होती हैं। निगमित उपक्रमों में जनता की पूँजी विनियोजित होती है। प्रबन्धक जनता की पूँजी के प्रन्यासी होते है। प्रबन्धकों का यह दायित्व है, कि वे जनता के विभिन्न वर्गों द्वारा विनियोजित पूँजी को सुरक्षा प्रदान करें तथा उस पर उचित प्रत्याय प्रदान करने की व्यवस्था करें। ऐसा उसी दशा में हो सकता है, जब व्यावसायिक प्रबन्धक वित्तीय प्रबन्ध के सिद्धान्तों से पूर्णरूपेण परिचित हों तथा उपक्रम के लिये प्रभावपूर्ण वित्तीय नीति का निर्धारण कर सकें।

(4) अंशधारियों के लिये उपयोगिता– उपक्रम के वास्तविक स्वामी अंशधारी होते हैं। अंशधारियों की संख्या अधिक होने के कारण अंशधारी प्रबन्ध में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं ले सकते हैं। प्रबन्ध का कार्य अंशधारियों द्वारा चुने गये संचालक मण्डल को सौंप दिया जाता है। उपक्रम का संचालक मण्डल अंशधारियों के हित में कार्य कर रहा है अथवा नहीं, इस पर ध्यान देना अंशधारियों का कार्य है। यदि अंशधारी वित्तीय प्रबन्ध विषय का पर्याप्त ज्ञान रखते हैं, तो वे उपक्रम की आर्थिक स्थिति का सही मूल्यांकन कर सकते हैं तथा उपक्रम की वार्षिक सभाओं में अच्छे सुझाव प्रदान कर सकते हैं। यदि संचालक मण्डल अंशधारियों के हितों के विरुद्ध कार्य करते हैं, तो अंशधारी संचालक मण्डल को उचित वित्तीय नीति अपनाने के लिये बाध्य कर सकते हैं।

(5) विनियोक्ताओं के लिये उपयोगिता– देश के अधिकांश विनियोक्ता बचत करके अपनी बचतों को उपक्रमों के अंशों में विनियोजित करते हैं। भारत में विनियोग बैंकों का अभाव होने के कारण विनियोक्ताओं को प्रतिभूति विक्रेताओं एवं दलालों पर आश्रित रहना पड़ता है। प्रतिभूति विक्रेता एवं दलाल विनियोक्ताओं को उचित परामर्श प्रदान नहीं कर सकते हैं। यदि विनियोक्ता स्वयं वित्तीय प्रबन्ध के सिद्धान्तों एवं व्यवहार से परिचित हों, तो वे स्वयं यह निर्णय ले सकते हैं, कि उन्हें कौन-से उपक्रम की प्रतिभूतियों में विनियोजन करना चाहिये, जिससे उन्हें पर्याप्त लाभ प्राप्त हो सके।

(6) वित्तीय संस्थाओं के लिये उपयोगिता– विभिन्न वित्तीय संस्थाओं जैसे विनियोग बैंकों, व्यापारिक बैंकों, अभिगोपकों, प्रन्यास उपक्रमों, स्वीकृति-गृहों, बट्टा-गृहों आदि के प्रबन्धकों को वित्तीय प्रबन्ध के विस्तृत ज्ञान की आवश्यकता होती है। इन वित्तीय संस्थाओं के प्रबन्धकों को विषय का पूर्ण ज्ञान न होने पर वे गलत उपक्रमों को अधिक उधार दे सकते हैं

अथवा गलत प्रतिभूतियों में विनियोजन कर सकते हैं अथवा गलत अभिगोपन द्वारा अनावश्यक हानि उठाने के लिये बाध्य हो सकते हैं। अतः वित्तीय संस्थाओं में वित्तीय विशेषज्ञों को नियुक्त किया जाता है।

(7) अन्य व्यक्तियों के लिये उपयोगिता– वित्तीय प्रबन्ध का ज्ञान समाज के विभिन्न व्यक्तियों के लिये लाभदायक होता है। राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, वाणिज्य एवं प्रबन्ध विषय के छात्र वित्तीय प्रबन्ध के ज्ञान से लाभान्वित होते हैं। भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अनेक पंचवर्षीय योजनाओं में भारी मात्रा में सरकारी उपक्रमों में विनियोग किया गया है। इस विनियोग की सफलता वित्तीय प्रबन्ध की प्रभावशीलता पर ही आधारित रहती है। भारत में सरकारी उपक्रमों की अकुशलता के कारण करोड़ों रुपयों की पूँजी पर उचित एवं पर्याप्त लाभ नहीं मिल पा रहा है। इस स्थिति को वित्तीय प्रबन्ध के आधुनिक सिद्धान्तों एवं व्यवहारों के उपयोग द्वारा ही लाभदायक बनाया जा सकता है।

(8) राष्ट्रीय महत्व– प्रत्येक देश में आर्थिक विकास के लिये अरबों रुपये का प्रतिवर्ष विनियोग किया जाता है। आर्थिक विकास के लिये किये जाने वाले इस विनियोग की सफलता वित्तीय प्रबन्ध की प्रभावशीलता पर आश्रित रहती है। भारत जैसे नियोजित अर्थव्यवस्था वाले देश में पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में अरबों रुपये का पूँजी विनियोग किया गया है। देश में किया गया यह विनियोग कहाँ तक उपयोगी सिद्ध हुआ, इसका ज्ञान तो वित्तीय विश्लेषण की कसौटी पर जाँचने के पश्चात् ही दिया जा सकता है। वित्तीय प्रबन्ध के ज्ञान से अर्थशास्त्री एवं राजनीतिज्ञ यह निर्णय ले सकते हैं, कि कौन-सा कार्य सार्वजनिक क्षेत्र में किया जाना चाहिये और कौन-सा कार्य निजी क्षेत्र के लिये छोड़ दिया जाना चाहिये। अर्थशास्त्री एवं राजनीतिज्ञ वित्तीय प्रबन्ध के ज्ञान से सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों की दशा सुधारने के लिये उचित नीति का निर्धारण कर सकते हैं, इसके साथ ही साथ राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय मामलों में उचित निर्णय ले सकते हैं। अतः यह कहा जा सकता है, कि वित्तीय प्रबन्ध का देश की आर्थिक परिस्थितियों से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है, कि किसी भी स्तर पर इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती है।

वित्तीय प्रबन्ध की सीमायें– वित्तीय प्रबन्ध की भूमिका निरन्तर बदलती जा रही है। पहले वित्तीय प्रबन्ध की आवश्यकता केवल विशेष अवसरों पर वित्त प्राप्ति के लिये अनुभव की जाती थी, लेकिन वर्तमान में वित्तीय प्रबन्ध अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गया है तथा इसकी आवश्यकता प्रबन्ध में निरन्तर बढ़ती जा रही है तथा यह उच्च प्रबन्ध का एक आवश्यक भाग हो गया है।

वित्तीय प्रबन्ध का अत्यधिक महत्व होते हुये भी वित्तीय प्रबन्ध की कुछ सीमायें हैं जिनको ध्यान में रखा जाना चाहिये। वित्तीय प्रबन्ध की प्रमुख सीमायें निम्नलिखित हैं–

(1) सभी प्रबन्धकीय निर्णयों के वित्तीय प्रभाव जानना जटिल– एक उपक्रम में प्रबन्ध के जितने कार्यात्मक क्षेत्र हैं, उन सभी के निर्णय वित्तीय प्रभाव रखते हैं, इसलिये वित्तीय प्रबन्धक के लिये समस्त कार्यात्मक प्रबन्धकीय निर्णयों के प्रभावों को जानना तथा उन सभी में समन्वय स्थापित करना काफी जटिल कार्य होता है।

(2) वित्तीय लेखों पर आधारित– एक उपक्रम में वित्तीय प्रबन्ध के लिये वित्तीय विश्लेषण एवं निर्वचन की अनेक तकनीकें प्रयोग में लायी जाती हैं जो वित्त लेखों पर आधारित होती हैं। वित्तीय लेखे भूतकाल से सम्बन्धित होते हैं, तथा लेखांकन परम्पराओं एवं नीतियों से प्रभावित रहते हैं। इसलिये वित्तीय लेखों पर आधारित वित्तीय निर्णय इनमें व्याप्त दोषों से ग्रसित रहते हैं।

(3) सम्बन्धित विषयों का कम ज्ञान– वित्तीय प्रबन्ध के सही उद्देश्य उसी दशा में प्राप्त हो सकते हैं, जब वित्तीय प्रबन्धकों को प्रबन्ध, प्रबन्ध–लेखांकन, सांख्यिकी, अर्थशास्त्र, अभियान्त्रिकी आदि का अच्छा ज्ञान हो। इनके ज्ञान के बिना उच्च प्रबन्ध उचित निर्णय लेने एवं उनके वित्तीय प्रभाव को ज्ञात करने में सक्षम नहीं होगा।

(4) वस्तुनिष्ठता का अभाव– वित्तीय प्रबन्ध पूर्णरूपेण वस्तुनिष्ठ नहीं है। उपक्रम में वित्तीय प्रबन्ध के निर्णय वित्तीय प्रबन्धकों के व्यक्तिगत विचारों एवं भावनाओं से प्रभावित होते हैं और जब इनकी मात्रा अधिक हो जाती है तो वित्तीय निर्णय उपक्रम के लिये अच्छे परिणाम कम एवं बुरे परिणाम अधिक देते हैं।

(5) विकासशील विषय– वित्तीय प्रबन्ध पूर्णरूपेण विकसित नहीं है एवं वित्तीय प्रबंध का अभी विकास हो रहा है । अनेक विचारों एवं धारणाओं के बारे में विशेषज्ञ एक राय नहीं हैं। वित्तीय विश्लेषण एवं निर्वचन के प्रमाप भी परिवर्तित हो रहे हैं।

(6) व्ययशील– एक प्रभावशील वित्तीय प्रबन्ध का संगठन खड़ा करना काफी महँगा कार्य है। इसलिये छोटे व्यावसायिक उपक्रम इस भार को वहन नहीं कर पाते हैं। वित्तीय अधिकारी योग्य एवं कुशल होने चाहिये। यदि कोई उपक्रम योग्यता एवं कुशलता से समझौता करके घटिया संगठन निर्मित करता है तो उसके परिणाम प्रतिकूल होते हैं।

प्रश्न–3. वित्तीय प्रबन्ध के उद्देश्यों की विवेचना कीजिये। सम्पदा मूल्य अधिकतम करना उद्देश्य लाभ अधिकतम करने के उद्देश्य से किस तरह श्रेष्ठ है?

अथवा

अधिकतम लाभ उपार्जन के वित्तीय उद्देश्य से आप क्या समझते हैं? इसकी सीमायें लिखिये।

अथवा

लाभ को अधिकतम करना क्यों आवश्यक है? लाभ–अधिकतम करने के उद्देश्यों की सीमाओं को समझाइये।

अथवा

'सम्पदा के मूल्य को अधिकतम करना व्यवसाय का मूल उद्देश्य है।' समझाइये।

अथवा

'अधिकतम लाभ का उद्देश्य व्यवसाय संचालन की सफलता को परखने के लिये उपयोगी कसौटी प्रस्तुत नहीं करता है।' वित्तीय प्रबन्ध के मूल्य उद्देश्यों के सन्दर्भ में इस कथन की व्याख्या कीजिये।

उत्तर– वित्तीय प्रबंध के तात्कालिक उद्देश्य उपक्रम के लिये पर्याप्त तरल एवं लाभदायक वित्त की व्यवस्था करना आवश्यक है, लेकिन व्यापक रूप से देखा जाये तो ये कहा जा सकता है कि वित्तीय प्रबंध का उद्देश्य फर्म के उद्देश्यों की प्राप्ति में अधिकतम सहायता पहुँचाना होता है। मुख्य रूप से वित्तीय उद्देश्य फर्म के स्वामियों के आर्थिक कल्याण को अधिकतम करना है। स्वामियों के आर्थिक कल्याण को किस प्रकार अधिकतम किया जाये, इसके लिये प्रमुख रूप से दो आधार हैं– (I) लाभ को अधिकतम करना, (II) सम्पदा के मूल्य को अधिकतम करना।

(I) लाभ को अधिकतम करना– व्यवसाय को परम्परागत रूप से एक आर्थिक संस्था माना गया है तथा संस्था की कुशलता को जांचने के लिये लाभ को एक अच्छा प्रमाप माना गया है। अतः किसी भी व्यवसाय का एक प्राकृतिक उद्देश्य होता है कि अधिकतम लाभ अर्जित किया जाये। लाभ को अधिकतम करने के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

(1) लाभ को अधिकतम करना विवेक के आधार पर उचित है– जब कोई व्यक्ति आर्थिक क्रिया विवेकपूर्ण ढंग से करता है तो उसका उद्देश्य उपयोगिता को अधिकतम करना होता है।

इसी कारण उपयोगिता को लाभ के रूप में मापा जा सकता है। इसलिये विवेक के आधार पर लाभ को अधिकतम करना उचित ठहराया जा सकता है।

(2) सामाजिक लाभ को अधिकतम बनाना– एक फर्म अपने लाभ अधिकतम करने के उद्देश्य का पालन करके सामाजिक आर्थिक कल्याण को अधिकतम करती है, क्योंकि फर्म लाभ अर्जित करके ही विभिन्न सामाजिक कार्यों जैसे– शिक्षा, चिकित्सा, श्रम कल्याण, आवास, मनोरंजन आदि पर व्यय करके लोगों के कल्याण को बढ़ा सकती है।

(3) साधनों का कुशल आवंटन एवं उपयोग– उपलब्ध साधनों का कुशल आवंटन एवं उपयोग लाभ के आधार पर किया जाता है। वित्तीय प्रबंधक साधनों को कम लाभदायक उपयोगों से निकालकर अधिक लाभदायक उपयोगों में लगाता है, जिसमें कुशलता बढ़ती है।

(1) निर्णयों की सफलता का मापक– सभी व्यावसायिक निर्णय लाभोपार्जन के उद्देश्य को ध्यान में रखकर किये जाते हैं। इसलिये यह निर्णयों की सफलता का प्रमुख मापक है। इस प्रकार एक उपक्रम अपने उत्पादन, विक्रय तथा निष्पादन में कुशलता अर्जित करके ही लाभ अर्जित कर सकता है।

(5) व्यवसाय के लिये प्रेरणा– लाभ व्यवसाय में प्रेरणा का एक प्रमुख स्रोत होता है। अधिक लाभ अर्जित करने के लिये एक फर्म अन्य फर्मों से अधिक कुशल बनने का प्रयास करती है, इसलिये लाभ व्यावसायिक कुशलता का आधार है। यदि व्यावसायिक उपक्रमों से लाभ की प्रेरणा समाप्त कर दी जाये तो प्रतियोगिता का अन्त हो जायेगा और इससे विकास एवं प्रगति की दर धीमी पड़ जायेगी।

लाभ अधिकतम करने के उद्देश्य की सीमायें– लाभ को अधिकतम करने के उद्देश्य की सीमायें निम्नलिखित हैं–

(1) अस्पष्ट धारणा– लाभ की धारणा एक अस्पष्ट धारणा है। फर्म अल्पकालीन लाभ को अधिकतम करे या दीर्घकालीन लाभ को अधिकतम करे, क्योंकि लाभ के कई रूप हो सकते हैं, जैसे– सकल लाभ, ब्याज एवं कर के पूर्व लाभ, कर के बाद लाभ, शुद्ध लाभ आदि।

(2) मुद्रा के समय मूल्य की उपेक्षा– लाभ को अधिकतम करने के उद्देश्य विभिन्न समय अवधियों में प्राप्त की गई लाभ की राशियों में अन्तर नहीं करता है अर्थात् यह मुद्रा के समय मूल्य को महत्व नहीं देता है, क्योंकि आज जो लाभ होता तथा एक साल, दो साल या अधिक सालों बाद प्राप्त होने वाले लाभ मुद्रा के मूल्य की दृष्टि से समान नहीं हो सकते हैं।

(3) भावी क्रियाओं से लाभ के उत्कर्ष तत्व की उपेक्षा– यह सिद्धान्त लाभ के उत्कर्ष तत्व की ओर ध्यान नहीं देता है। किसी कार्य के करने पर प्राप्त होने वाले लाभ की निश्चितता का अंश अधिक या अनिश्चितता का कम मात्रा में हो सकता है, जो जोखिम की न्यूनतम मात्रा का प्रतीक होगा जबकि किसी कार्य में अनिश्चितता अधिक हो सकती है, जो अधिक जोखिम का प्रतीक होगा।

(II) सम्पदा के मूल्य को अधिकतम करना– अधिकतम लाभ का उद्देश्य व्यवसाय संचालन की सफलता को परखने के लिये उपयोगी कसौटी प्रस्तुत नहीं करता है। लाभ को अधिकतम करने के स्थान पर फर्म की सम्पदा के मूल्य को अधिकतम करना व्यवसाय का मूल उद्देश्य माना जाता है। इसलिये वित्तीय प्रबंध का उद्देश्य भी फर्म की सम्पदा के मूल्य को अधिकतम करना होता है। इसलिये वित्तीय प्रबंध को फर्म के लिये ऐसे कार्य करने चाहिये, जिससे फर्म की सम्पदा का मूल्य बढ़ता है तथा ऐसे कार्य नहीं करने चाहिये, जिससे सम्पदा का मूल्य कम होता है। इस प्रकार किसी कार्य का शुद्ध वर्तमान मूल्य उस कार्य से प्राप्त कुल वर्तमान मूल्य में से उस कार्य में की गई प्रारम्भिक पूंजी विनियोजन की राशि को घटाने से प्राप्त हो सकता है।

शुद्ध वर्तमान मूल्य को निम्न सूत्र के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

$$NPV = \frac{A1}{(1+i)} + \frac{A2}{(1+i)^2} + \cdots\cdots\frac{An}{(1+i)^n} - C$$

$$= \sum_{}^{n} \frac{At}{(1+i)} - C$$

एक फर्म जो अपने अंश धारकों की सम्पत्ति का मूल्य अधिकतम बनाने का कार्य करती है, इसके लिये उसे निम्नलिखित कार्य करने चाहिये–

(1) **ऊँचे स्तर की जोखिमों से बचा जाये–** यदि फर्म के दीर्घकालीन व्यावसायिक प्रचालनों को देखा जाये तो उनमें अनावश्यक तथा अधिक मात्रा वाली जोखिमों से बचना चाहिये। इसलिये अधिक लाभदायकता वाले क्षेत्रों को चुनना चाहिये।

(2) **लाभांश का भुगतान–** लाभांश का भुगतान फर्म तथा अंशधारियों की आवश्यकताओं के अनुरूप होना चाहिये, क्योंकि निरन्तर उपयुक्त मात्रा में लाभांश दिये जाने पर विनियोक्ता आकर्षित होते हैं, जिससे फर्म के अंशों का बाजार मूल्य एवं फर्म की वर्तमान सम्पदा बढ़ती है।

(3) **विकास अथवा वृद्धि की प्राप्ति–** एक फर्म को अपने वर्तमान मूल्य को अधिकतम करने के लिये अपने विक्रय तथा लाभों में वृद्धि करनी होती है। उसे विकास एवं विस्तार की योजनायें बनाकर लागू करनी चाहिये, क्योंकि कोई भी संस्था या तो विकास करती है या उसका पतन हो जाता है। इसलिये फर्म को हमेशा विकास एवं विस्तार के लिये कार्यशील रहना चाहिये।

(4) **अंशों के बाजार को ऊँचा बनाये रखना–** जो प्रबंध फर्म की सम्पदा के मूल्य को अधिकतम करना चाहता है, उसका कर्तव्य है कि वह फर्म के अंशों का बाजार में ऊंचा मूल्य बनाये रखे।

प्रश्न–4. एक व्यावसायिक उपक्रम में कितने प्रकार के वित्तीय निर्णय लिये जाते हैं? संक्षेप में वर्णन कीजिये।

अथवा

'वित्त–कार्य का मुख्य जोर उन निर्णयों और क्रियाओं पर होता है, जो फर्म के मूल्य अथवा सम्पदा को प्रभावित करते हैं।' इस कथन की व्याख्या कीजिये और उन विभिन्न प्रकार के निर्णयों का वर्णन कीजिये, जो एक फर्म में एक वित्तीय प्रबन्धक द्वारा लिये जाते हैं।

उत्तर– व्यावसायिक उपक्रमों में वित्तीय मामलों से सम्बन्धित जितने निर्णय लिये जाते हैं, उन निर्णयों को वित्तीय निर्णयों के नाम से जाना जाता है। वित्तीय निर्णय या तो व्यावसायिक उपक्रम का वित्तीय प्रबंधक स्वयं अकेले लेता है अथवा व्यावसायिक उपक्रम के अन्य अधिकारियों के साथ सम्मिलित रूप से लेता है। वित्तीय अधिकारी को अपने स्वामी के हितों की रक्षा के लिये न केवल व्यावसायिक उपक्रम के लिये अनुकूलतम शर्तों पर धन उपलब्ध कराना होता है वरन् साथ ही साथ वित्तीय अधिकारी को उपलब्ध पूँजी के विनियोजन और उसके प्रभावशाली उपयोग के सम्बन्ध में निर्णय भी लेना पड़ता हैं। पूँजी की कितनी मात्रा विनियोजित की जाये, किन विशिष्ट सम्पत्तियों को ग्रहण किया जाये, पूँजी की संरचना किस प्रकार की हो आदि मामलों से सम्बद्ध सभी निर्णय वित्तीय प्रबंधक को स्वयं ही लेने पड़ते हैं। व्यावसायिक उपक्रम से प्राप्त लाभ का वितरण किस प्रकार किया जाये, घोषित लाभांश की मात्रा और स्वरूप क्या हो, ह्रास की व्यवस्था कैसी हो आदि बातें भी वित्तीय अधिकारी को ही निर्धारित करनी पड़ती हैं।

सिद्धांततः वित्त सम्बन्धी समस्याओं के समाधान का उत्तरदायित्व वित्तीय अधिकारी का ही होता है। परन्तु व्यवहार में उसे अपने उत्तरदायित्वों को कुशलता से सम्पन्न करने के लिये व्यावसायिक उपक्रम के अन्य अधिकारियों की समय–समय पर सहायता लेनी ही पड़ती है। वास्तव में कुछ वित्तीय मामलों में निर्णय लेने का उत्तरदायित्व केवल वित्तीय अधिकारी का ही होता हैं जबकि अन्य वित्त सम्बन्धी मामलों के समाधान का उसका उत्तरदायित्व संयुक्त रूप से होता है। जैसे व्यवसाय के लिये वित्तीय योजना बनाने का वित्तीय अधिकारी का उत्तरदायित्व संयुक्त रूप से होता है। उसे क्रय, विक्रय, उत्पादन आदि विभागों के अधिकारियों के साथ बैठकर व्यापार के लिये आवश्यक पूँजी का अनुमान लगाने तथा वित्त सम्बन्धी विभिन्न नीतियों के निर्माण करने का कार्य करना होता है क्योंकि इनका प्रत्यक्ष प्रभाद उत्पादन, वितरण तथा अन्य कार्यों पर पड़ता है। व्यावसायिक उपक्रम के लिये किन–किन स्रोतों से कितनी पूँजी एकत्रित की जाये, अभिगोपन की व्यवस्था करनी होगी अथवा नहीं, अंशधारियों तथा ऋणदाताओं से पूँजी प्राप्त करने की क्या–क्या शर्तें होंगी आदि बातों से सम्बद्ध निर्णय लेने का उत्तरदायित्व पूर्णरूपेण वित्तीय प्रबंधक का होता है। इसके विपरीत वित्तीय साधनों के वितरण एवं नियंत्रण सम्बन्धी समस्यायें वित्तीय प्रबंधक को व्यावसायिक उपक्रम के अन्य विभागाधिकारियों से मिलकर ही हल करनी पड़ती हैं। प्रतिभूतियों का प्रबंधन वित्तीय अधिकारी को स्वयं करना पड़ता है इसके विपरीत प्राप्यबिलों तथा सामग्री का प्रबंध उसे उत्पादन, क्रय तथा विक्रय प्रबंधकों की सहायता से करना होगा। व्यावसायिक उपक्रम की आय का विवरण लाभांश और संचय कोष के मध्य किस अनुपात में करना होगा, लाभांश का क्या स्वरूप होगा आदि मामलों से सम्बद्ध निर्णय वित्तीय प्रबंधक को अकेले, बिना अन्य विभागाधिकारियों के परामर्श से लेकिन उच्च प्रबंध के दिशा–निर्देशन में हल करने होंगे।

महत्वपूर्ण वित्तीय निर्णय– वित्तीय मामलों से सम्बद्ध निर्णयों को तीन प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है– विनियोग सम्बन्धी निर्णय, वित्तदायी निर्णय और लाभांश सम्बन्धी निर्णय।

(1) **विनियोग सम्बन्धी निर्णय–** विनियोग सम्बन्धी निर्णय वित्तीय निर्णयों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। विनियोग सम्बन्धी निर्णय में वित्तीय प्रबन्धक को यह निर्णय लेना पड़ता है, कि व्यावसायिक उपक्रम में कितनी पूँजी विनियोजित की जाये, उसका वितरण विभिन्न सम्पत्तियों में किस अनुपात में किया जाये तथा कौन सी सम्पत्ति विशेष को ग्रहण किया जाये? दीर्घकालीन सम्पत्तियों में कोष के विनियोजन सम्बन्धी निर्णय अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं क्योंकि व्यावसायिक उपक्रम की दीर्घकालीन समृद्धि, उत्पादकता एवं सफलता इसी पर निर्भर है। वित्तीय प्रबंधक को विनियोजन के पूर्व यह निर्णय लेना आवश्यक है, कि विभिन्न वैकल्पिक विनियोग परियोजनाओं में से किन–किन में धन विनियोजित किया जाये, जिससे व्यावसायिक उपक्रम को दीर्घकाल तक अधिक से अधिक लाभ प्राप्त हो। इसलिये व्यावसायिक उपक्रम को सर्वप्रथम विभिन्न वैकल्पिक परियोजनाओं का उनसे सम्बद्ध आर्थिक लाभ, लागत तथा जोखिम के संदर्भ में मूल्यांकन करना पड़ता हैं और इसके पश्चात् सर्वाधिक लाभ प्रदान करने वाली परियोजना को जिनके अन्तर्गत जोखिम की मात्रा अपेक्षाकृत कम हो, चयन करना पड़ता है। पूँजी के पुनर्वितरण का निर्णय भी विनियोग सम्बन्धी निर्णयों में सम्मिलित किया जाता है। कभी–कभी सम्पत्ति विशेष से प्राप्त आय उसमें विनियोजित पूँजी के अनुरूप नहीं होती है, ऐसी अवस्था में पूँजी के पुनर्वितरण की समस्या उत्पन्न हो जाती हैं।

व्यावसायिक उपक्रम के लिये नई परियोजनाओं के चयन के अतिरिक्त विद्यमान सम्पत्तियों के कुशल प्रबन्ध करने का उत्तरदायित्व भी वित्तीय प्रबन्धक का होता है लेकिन

उसका सम्बन्ध अचल सम्पत्ति के प्रबन्ध की अपेक्षा चालू सम्पत्ति से अधिक है। व्यावसायिक उपक्रम के लिये तरलता का उचित स्तर निर्धारित करना, माल उधार देने तथा उसकी वसूली करने से सम्बद्ध नीतियाँ निर्मित करना तथा सामग्री का उचित स्तर निश्चित करना आदि कार्य भी विनियोग सम्बन्धी निर्णयों के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार स्थायी एवं चालू सम्पत्ति से सम्बद्ध सभी विनियोग-निर्णय इसमें सम्मिलित होते हैं।

(2) वित्तदायी निर्णय– व्यावसायिक उपक्रम में वित्तदायी निर्णय पूँजी के सम्भावित साधनों के बारे में विचार-विमर्श करता है। व्यावसायिक उपक्रम के लिये आवश्यक पूँजी का क्या ढाँचा होगा, इससे सम्बद्ध निर्णय वित्तदायी निर्णय के अन्तर्गत सम्मिलित किये जाते हैं। पूँजी एकत्रित करते समय वित्तीय प्रबन्धक का प्रमुख उद्देश्य व्यापार के लिये पूँजी की सर्वोत्तम संरचना निर्धारित करना होता है क्योंकि इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध व्यावसायिक उपक्रम के अंश के बाजार-मूल्य पर पड़ता है। वित्तीय प्रबन्धक का सदैव यही प्रयत्न होता है, कि पूँजी का स्वरूप ऐसा हो जो व्यावसायिक उपक्रम की प्रति अंश आय में वृद्धि करने में सहायक हो सके और, अंशों के बाजार-मूल्य में भी वृद्धि हो सके। व्यावसायिक उपक्रम दीर्घावधि और अल्पावधि पूँजी की आवश्यकता की पूर्ति किन-किन स्रोतों से करनी होगी, किन-किन प्रतिभूतियों को निर्गमित करना होगा, अंशों तथा ऋणपत्रों द्वारा कितनी पूँजी एकत्रित की जायेगी, पूँजी प्राप्त करने की क्या-क्या शर्तें होंगी, वित्तीय संस्थाओं से कितनी सहायता किन-किन शर्तों पर प्राप्त की जाये,, प्रतिभूतियों के के विक्रय के लिये कौन-कौन सी व्यवस्थायें करनी होगी, अभिगोपन की व्यवस्था करनी होगी अथवा नहीं, आदि मामलों से सम्बद्ध निर्णय लेने का उत्तरदायित्व वित्तीय प्रबन्धक का ही होता है। समय-समय पर पूँजी संरचना अथवा उसके स्वरूप में आवश्यक परिवर्तन करना भी वित्तदायी निर्णय के अन्तर्गत आता है जिससे पूँजी की लागत में काफी कमी हो और प्रति अंश आय में वृद्धि हो जिससे बाजार में अंशों के मूल्य मे वृद्धि हो सके।

(3) लाभांश सम्बन्धी– व्यावसायिक उपक्रम से प्राप्त आय का प्रबन्ध किस प्रकार किया जायेगा, इससे सम्बन्धित निर्णयों को लाभांश सम्बन्धी निर्णय के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है। लाभ का कितना भाग अंशधारियों में विभाजित किया जायेगा और कितना भाग संचित किया जायेगा, क्या लाभ का उपयोग व्यावसायिक उपक्रम के पिछले ऋणों के भुगतान में किया जायेगा अथवा नहीं, कितनी राशि तक लाभांश नकद रूप में वितरित किया जायेगा और कितना बोनस अंशों में, इन सभी मामलों के सम्बन्ध में वित्तीय प्रबन्धक को इस ढंग से निर्णय लेना पड़ता है, जिससे अंशधारियों के हितों को अधिकतम सुरक्षा प्रदान की जा सके।

वित्तीय प्रबन्ध के अन्तर्गत उपर्युक्त तीनों प्रकार के निणयों का उचित समाधान निकाला जाता है। वित्तीय निर्णय आपस में इतने सम्बद्ध हैं कि इन्हें पृथक-पृथक् रूप में न तो सम्पन्न ही किया जा सकता है और न इनके पृथक-पृथक परिणामों को ही देखा जा सकता है। ये तीनों ही निर्णय सम्मिलित रूप से व्यावसायिक उपक्रम की सम्पदा के मूल्य में वृद्धि करते हैं। व्यावसायिक उपक्रम कोई भी निर्णय जो सम्पदा के मूल्य में वृद्धि करता है, उचित एवं वांछनीय है तथा उसे अवश्य लिया जाना चाहिये।

प्रश्न–5. एक व्यावसायिक उपक्रम के वित्तीय निर्णयों को प्रभावित करने वाले वाह्य एवं आन्तरिक तत्वों का वर्णन कीजिये।

उत्तर– वित्तीय निर्णयों को प्रभावित करने वाले तत्व– चूँकि वित्तीय मामलों से सम्बद्ध निर्णयों का प्रभाव दीर्घकाल तक व्यावसायिक उपक्रम की वित्तीय स्थिति पर पड़ता है इसलिये कोई भी वित्तीय निर्णय लेते समय वित्तीय प्रबन्धक को अत्यन्त सावधानी बरतनी चाहिये और

उन सभी वाह्य तथा आन्तरिक तत्वों पर पूर्णरूपेण विचार-विमर्श करना चाहिये जो किसी न किसी प्रकार से उसे प्रभावित करते हैं। वित्तीय निर्णयों को प्रभावित करने वाले तत्व निम्नलिखित हैं–

(अ) **वाह्य तत्व–** वाह्य तत्वों का आशय ऐसे तत्वों से है जो वित्तीय निर्णयों को व्यावसायिक उपक्रम के बाहर से प्रभादित करते हैं। इन तत्वों पर व्यावसायिक उपक्रम के प्रबन्धकों का कोई नियन्त्रण नहीं होता है, वाह्य तत्वों में अर्थव्यवस्था की स्थिति, पूँजी बाजार की दशा, सरकारी नियन्त्रण और कराधान जैसे महत्वपूर्ण तत्वों को सम्मिलित किया जाता है।

बाह्य तत्व वित्तीय निर्णय को निम्नलिखित प्रकार से प्रभावित करते हैं–

(1) **अर्थव्यवस्था की स्थिति–** यदि देश की वर्तमान राजनैतिक स्थिति दयनीय हो और तेजी तथा मन्दी की स्थिति बार-बार आती रहती हो तो ऐसी अनिश्चितता के वातावरण में नये व्यावसायिक उपक्रमों में पूँजी विनियोजित करना अथवा वर्तमान उद्योगों के विस्तार-कार्यक्रम आर्थिक दृष्टि से वांछनीय नहीं होते हैं। जबकि यदि देश मे राजनैतिक तथा आर्थिक स्थिरता है, और वित्तीय प्रबन्धक यह पूर्वानुमान लगाता है, कि निकट भविष्य में भी देश में आर्थिक और राजनैतिक स्थिरता रहेगी एवं औद्योगिक क्षेत्र में विस्तार होने के लक्षण वित्तीय प्रबन्धक को दिखालाई पड़ते हैं, तो ऐसी दशा में बढ़ती हुई माँग की पूर्ति के लिये नई प्रस्थापनाओं में विनियोजन करना तथा विद्यमान उद्यम में विस्तार करना उपयोगी है। यदि देश में मन्दी आने के लक्षण दिखलाई पड़ते हों तो वित्तीय प्रबन्धक को नये विनियोजनों पर विचार रद्द कर देना चाहिये। इसके विपरीत तेजी का समय नये विनियोजनों को प्रोत्साहित करता है। अतएव वित्तीय प्रबन्धक को ऋणपत्रों पर अधिक जोर देना चाहिये क्योंकि इस पर समता पर व्यापार का लाभ प्राप्त होने के कारण पूँजी की लागत कम हो जाती है। मन्दी की स्थिति में बाहरी स्रोतों से पूँजी एकत्रित करना अत्यन्त जटिल है। इसलिये वित्तीय प्रबनधक को आन्तरिक स्रोतों पर अधिक निर्भर होना चाहिये। इसके लिये उसे व्यावसायिक उपक्रम के संचित कोष की स्थिति सुदृढ़ करनी चाहिये।

(2) **पूँजी बाजार की स्थिति–** पूँजी बाजार की सभी गतिविधियों का प्रत्यक्ष प्रभाव व्यावसायिक उपक्रम के वित्त सम्बन्धी निर्णयों पर पड़ता है। पूँजी बाजार में पूँजी की माँग एवं पूर्ति के अनुरूप पूँजी की लागत में कमी अथवा वृद्धि होती है, जो अन्ततोगत्वा व्यावसायिक उपक्रमों को उपलब्ध होने वाली पूँजी की मात्रा तथा उसकी लागत को प्रभावित करती है। तेजी के समय जब व्यावसायिक उपक्रम के लिये पूँजी की आवश्यकता बढ़ती है, तो स्कन्ध बाजारों में अंशों के क्रय-विक्रय की क्रियाओं में वृद्धि होने लगती है। विनियोक्ता वर्ग ऊँची दर पर लाभ कमाने की अभिलाषा से अंशों में अधिकाधिक विनियोजन करने लगते हैं। उपक्रमियों को बाजार से पूँजी एकत्रित करने में कोई कठिनाई नहीं आती है। इसके विपरीत मन्दी की दशा में यद्यपि ब्याज दर कम होने लगती है लेकिन उसे कम ब्याज दर पर पूँजी प्राप्त करना अत्यन्त कठिन कार्य है क्योंकि बाजार में अंशों की माँग न होने के कारण मूल्य कम होने लगते हैं। आय की अनिश्चितता के कारण विनियोजक कम्पनियों के अंशों में पूँजी लगाना पसन्द नहीं करते। उनमें ऋणपत्रों के क्रय करने की प्रवृत्ति अधिक होती है। ऐसी दशा में व्यावसायिक उपक्रम को आवश्यक पूँजी के लिये ऋणपत्रों पर निर्भर रहना पड़ता है। बाहरी स्रोतों से पूँजी एकत्रित करने की अनिश्चितता के कारण कम्पनी को आन्तरिक स्रोतों पर निर्भर रहना हितकारी होता है। इसलिये ऐसी दशा में एकत्रित वित्तीय प्रबन्धकों को कठोर लाभांश नीति का अनुसरण करना चाहिये।

(3) मुद्रा-बाजार की स्थिति- व्यावसायिक उपक्रम के लिये अल्पकालीन पूँजी की उपलब्धि तथा उसकी लागत मुद्रा-बाजार की गतिविधियों द्वारा नियन्त्रित होती है। पूँजी-बाजार की भाँति मुद्रा बाजार में भी विस्तार की दशा मे ब्याज दर मे वृद्धि होने लगती है जिसके परिणामस्वरूप अल्पकालीन पूँजी की लागत में वृद्धि हो जाती है। कभी-कभी मौद्रिक स्थिति के नियन्त्रण के उद्देश्य से केन्द्रीय बैंक, बैंक-दर में वृद्धि कर देता है। परिणामस्वरूप व्यापारिक बैंको की ब्याज दर मे वृद्धि होने लगती है।

महंगी मुद्रा-नीति के कारण न केवल अल्पकालिक पूँजी महंगी हो जाती है अपितु इसके साथ ही साथ ऋणपत्रों की ब्याज दर मे वृद्धि की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो जाती है। परिणामस्वरूप लाभांश की दर मे भी वृद्धि होने लगती है। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव व्यावसायिक उपक्रमों की वित्तीय स्थिति पर पडता है और वे वित्तीय नीतियों पर पुनर्विचार करने को विवश हो जाते है।

(4) सरकारी नियन्त्रण- सरकार के आर्थिक, औद्योगिक एवं श्रम-सम्बन्धी नियमों का भी प्रभाव व्यावसायिक उपक्रम के वित्तीय निर्णयों पर पड़ता है। समाजवादी अर्थव्यवस्था में निजी उद्यमियों को मनमाने ढग से पूँजी विनियोजित करने की स्वतन्त्रता नहीं होती है। सरकार औद्योगिक नीति द्वारा स्पष्ट रूप से निर्धारित करती है, कि किन-किन औद्योगिक क्षेत्रों मे उद्यमियों को पूँजी विनियोजन करने की सुविधा होगी। ऐसी दशाओं में वित्तीय प्रबन्धको को उन्हीं पूँजी विनियोजन अवसरों पर विचार-विमर्श करना पड़ेगा जिनकी सरकार ने अनुमति प्रदान की है।

(5) कराधान नीतियाँ- अचल सम्पत्ति में पूँजी विनियोजित करते समय वित्तीय प्रबन्धकों को यह निर्णय लेना पड़ता है, कि सम्पत्ति की प्रतिस्थापना के लिये ह्रास की कौन सी पद्धति प्रयोग की जाये जिससे कर का बोझ हल्का हो सके? सम्पत्ति पर ह्रास की गणना के लिये विभिन्न पद्धतियाँ प्रचलित है जिनमें सीधी पंक्ति पद्धति दोहरी सीधी पंक्ति पद्धति, घटते बैलेंस की पद्धति तथा वार्षिक पद्धति अधिक प्रचलित हैं। कर के दृष्टिकोण से दोहरी सीधी पंक्ति पद्धति अपेक्षाकृत सर्वाधिक उपयोगी पद्धति है क्योंकि इसके अन्तर्गत सम्पत्ति पर ह्रास की गणना पहले कुछ वर्षों तक दो गुनी दर से की जाती है जो कर-योग्य लाभ में कमी करके आयकर में बचत करती है।

(6) विनियोक्ताओं की मनोवृत्ति- प्रत्येक व्यावसायिक उपक्रम विभिन्न प्रकार के विनियोक्ताओं से पूँजी एकत्रित करते है और उसे इन सभी को सन्तुष्ट भी करना पड़ता है। इसलिये वित्तीय प्रबन्धक को चाहिये, कि इन विविध प्रकार के विनियोक्ताओं की मनोवृत्ति का ध्यान रखे और उन सभी को सन्तुष्ट रखते हुये उचित निर्णय लेना चाहिये।

(7) वित्तीय संस्थाओं की नीति- वित्तीय संस्थाओं की उद्योगों को सहायता प्रदान करने की नीति का प्रभाव पूँजी विनियोजन सम्बन्धी निर्णय पर पड़ता है। जैसे यदि वित्तीय संस्थायें पैट्रो-कैमिकल्स, उर्वरक, अभियान्त्रिकी, मशीन निर्माण, सीमेंट, स्टील जैसे नये औद्योगिक क्षेत्रों से सम्बन्धित परियोजनाओं को प्राथमिकता प्रदान करने की नीति प्रयोग करती हैं, तो ऐसी दशा में उद्यमियों को इन्हीं क्षेत्रों के अन्तर्गत वैकल्पिक परियोजनाओं पर विचार-विमर्श करना चाहिये।

वित्तीय संस्थाओं की नीति व्यवसाय के ढाँचे को भी प्रभावित करती है। कभी-कभी वित्तीय संस्थायें ऋण प्रदान करते समय ऐसी शर्तें लगा देती हैं, कि व्यावसायिक उपक्रम के लिये यही श्रेयस्कर होता है कि वह अतिरिक्त पूँजी अपने आन्तरिक स्रोतों से ही प्राप्त करे।

(8) अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ- अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यवसाय करने वाले व्यावसायिक उपक्रमों में वित्त-सम्बन्धी निर्णयों पर अन्तर्राष्ट्रीय स्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है। जैसे- अन्तर्राष्ट्रीय संकट की दशा में ये व्यावसायिक उपक्रम अपने विस्तार कार्यक्रम स्थगित कर देते हैं। अभी कुछ समय पूर्व पैट्रोलियम संकट उत्पन्न हो जाने के कारण विकासशील देशों के साथ-साथ विकसित देशों में भी स्थित हजारों व्यावसायिक उपक्रमों ने अपने विस्तार कार्यक्रमों को स्थगित कर दिया था।

(ब) आन्तरिक तत्व- आन्तरिक तत्व वे हैं, जो व्यावसायिक उपक्रम की आन्तरिक स्थिति से सम्बद्ध होते हैं। आन्तरिक तत्वों का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से विभिन्न निर्णयों पर पड़ता है। इसलिये वित्तीय प्रबन्धक को विभिन्न वित्तीय निर्णय लेते समय निम्नलिखित तत्वों पर भी विचार-विमर्श करना चाहिये-

(1) व्यवसाय की प्रकृति- व्यवसाय की प्रकृति का प्रभाव विभिन्न सम्पत्तियों में पूँजी विनियोजन की मात्रा, पूँजी संरचण तथा लाभांश नीति पर पड़ता है।

व्यवसाय की प्रकृति का प्रत्यक्ष प्रभाव व्यावसायिक उपक्रम की आय की स्थिरता अथवा विचरणशीलता पर भी पड़ता है। जनोपयोगी उपक्रमों तथा आवश्यक आवश्यकताओं की वस्तुयें उत्पादित करने वाले उपक्रमों में सामान्यतः आय स्थिर होती है क्योंकि इन वस्तुओं की मांग पर आर्थिक उतार-चढ़ावों का अपेक्षाकृत कम प्रभाव पडता है। ये व्यावसायिक उपक्रम अतिरिक्त पूँजी का संग्रह ऋणपत्रों द्वारा कर सकते हैं। परन्तु व्यावसायिक उपक्रमों में जहा आराम तथा विलासिता की वस्तुयें निर्मित की जाती है और जिनकी आय में स्थिरता कम होती है, ऋणपत्रों का उपयोग जोखिमपूर्ण होता है। इसके अलावा व्यावसायिक उपक्रमों के ऋणपत्रों की मांग भी बाजार में कम होती है। इसी प्रकार लाभांश नीति निर्मित करते समय भी व्यवसाय की प्रकृति को ध्यान मे रखना आवश्यक है। व्यावसायिक उपक्रमों एवं विलासिता की वस्तुयें उत्पादित करने वाले में लाभांश दर मे स्थायित्व बनाये रखने के लिये कठोर लाभांश नीति का अनुसरण करना अधिक श्रेयस्कर है क्योंकि इस नीति के द्वारा वित्तीय प्रबंधक अच्छे दिनों में अधिक लाभ संचय कर सकता है। वित्तीय प्रबन्धक इस संचय राशि का उपयोग व्यावसायिक उपक्रम के बुरे दिनो में लाभांश दर स्थिर रखने के लिये कर सकता है।

(2) व्यवसाय का आकार- समान प्रकृति वाले व्यावसायिक उपक्रमों में अचल सम्पत्ति तथा चल सम्पत्तियों में पूँजी विनियोजन की मात्रा उनके आकार द्वारा प्रभावित होती है। बड़े पैमाने पर काम करने वाले व्यावसायिक उपक्रमो मे अचल सम्पत्ति मे पूँजी का विनियोजन छोटे व्यावसायिक उपक्रमों की अपेक्षा अधिक होता है। इसका सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है, कि बड़े व्यावसायिक उपक्रम उत्पादन के लिये स्वचालित मशीनें लगाते है जो छोटे व्यावसायिक उपक्रम वहन नहीं कर सकते है। साथ ही साथ छोटे व्यावसायिक उपक्रम किराये के भवन से ही अपना काम चला सकती है जबकि बड़े व्यावसायिक उपक्रम व्यावसायिक कार्य के लिये अपना भवन निर्माण करती हैं।

बड़े व्यावसायिक उपक्रम की अपेक्षा छोटे व्यावसायिक उपक्रमों की पूँजी और मुद्रा-बाजार में पहुँच कमजोर साख योग्यता के कारण सीमित होती है। इनके अंशो और ऋणपत्रों में पूँजी विनियोजित करने मे विनियोक्ता संकोच करते है। इसके अतिरिक्त उपक्रम के पास ऋणदाताओं से पूँजी प्राप्त करने के लिये बंधक रखने के लिये अचल सम्पत्ति भी पर्याप्त मात्रा में नहीं होती है। यही कारण है, कि इन उपक्रमों में पूँजी अधिकांशतः सम्बन्धियों एवं मित्रों से प्राप्त की जाती है। इसके विपरीत बड़े व्यावसायिक उपक्रम को प्रत्येक स्रोतों से पूँजी एकत्रित करने की सुविधा उपलब्ध है। ये बड़े व्यावसायिक उपक्रम अधिकतर ऋणपत्रों को जारी करके

अतिरिक्त पूँजी की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं क्योंकि इससे पूँजी की लागत कम हो जाती है।

(3) सम्भावित आय–दर एवं जोखिम की मात्रा– वित्तीय प्रबंधक को पूँजी विनियोजन परियोजनाओं के सम्बन्ध में निर्णय लेते समय वैकल्पिक परियोजनाओं से प्राप्य आय–दर और इनमें निहित जोखिम पर भी विचार–विमर्श करना चाहिये। किसी परियोजना का चयन केवल सम्भावित प्राप्य आय–दर के आधार पर ही करना गलत होगा। वास्तव में किसी परियोजना से प्राप्य सम्भाव्य आय दर की तुलना व्यावसायिक उपक्रम के सन्तुलन बिन्दु से करनी चाहिये। जिस परियोजना में सम्भाव्य प्राप्य दर और सन्तुलन बिन्दु में अधिक मार्जिन होगा उस परियोजना को पूँजी विनियोजन के लिये चुनना व्यावसायिक उपक्रम के लिये हितकर होगा। इस सम्बन्ध में एक बात और याद रखने योग्य है, कि उस परियोजना में निहित जोखिम की मात्रा भी अपेक्षाकृत कम होनी चाहिये।

(4) व्यवसाय का सम्पत्ति ढाँचा– व्यावसायिक उपक्रम का प्रस्तावित एवं सम्भावित सम्पत्ति–ढाँचा भी विभिन्न वित्तीय निर्णयों को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित करता है। यदि किसी व्यावसायिक उपक्रम में कुल परिसम्पत्तियों का अधिकांश भाग अचल सम्पत्ति रूप में है, तो उसे ऋणपत्रों द्वारा पूँजी एकत्रित करने का लाभ उठाना चाहिये। यही कारण है, कि अंश पूँजी की तुलना में ऋण का अनुपात जनोपयोगी उपक्रमों और निर्माणकारी व्यावसायिक उपक्रम में अपेक्षाकृत बहुत अधिक होता है।

(5) स्वामित्व का ढाँचा– यदि व्यावसायिक उपक्रम का स्वामित्व कुछ मामूली से व्यक्तियों के हाथों में है, जैसा कि निजी व्यावसायिक उपक्रमों में पाया जाता है, तो वे इस बात के लिये सरलतापूर्वक राजी किये जा सकते हैं, कि व्यावसायिक उपक्रम के हित में कठोर लाभांश नीति का अनुसरण किया जाये। लेकिन यदि व्यावसायिक उपक्रमों के अंशधारी बहुत अधिक संख्या में हैं और वे विभाजित हैं, जैसा कि एक सार्वजनिक उपक्रम में होता है, तो ऐसी दशा में वित्तीय प्रबन्धक को उदार लाभांश नीति पर जोर देना चाहिये।

(6) नियमित एवं निश्चित आय की सम्भावनायें– अतिरिक्त पूँजी की आवश्यकता की पूर्ति करते समय वित्तीय प्रबंधक को व्यावसायिक उपक्रम की गत अनेक वर्षों की आय की प्रवृत्ति का अध्ययन करना चाहिये। यदि पिछले वर्षों की आय में काफी नियमितता रही है, और निकट भविष्य में भी यही प्रवृत्ति बनी रहने की आशा है, तो ऐसी दशा में ऋणपत्रों द्वारा पूँजी एकत्रित करना श्रेयस्कर होगा। यदि उपक्रम के गत वर्षों के आय–स्तर में स्थिरता नहीं रही है और यह सम्भावना है, कि निकट भविष्य में भी उपक्रम की आय नियमित नहीं होगी परन्तु अनेक वर्षों की आय का औसत अधिमान्य अंशों पर देय लाभांश से अधिक होगा तो ऐसी दशा में अधिमान्य अंशों द्वारा पूँजी एकत्रित करनी चाहिये। जबकि यदि व्यावसायिक उपक्रम की गत वर्षों की आय में उच्चावचन रहा हो और वैसी ही प्रवृत्ति आगामी वर्षों में बनी रहने की सम्भावना हो तो ऐसी दशा में वित्तीय प्रबंधकों को साधारण अंशों द्वारा धन एकत्रित करना चाहिये।

(7) कम्पनी की आयु– नये व्यावसायिक उपक्रमों की अंश पूँजी में आय प्राप्ति की अनिश्चितता के कारण विनियोक्ता पूँजी विनियोजित करने में संकोच करते हैं। अल्प पूँजी आधार के कारण नये व्यावसायिक उपक्रमों को दीर्घकालीन ऋण देने में ऋणदाता भी संकोच करते हैं। परिणामस्वरूप नये व्यावसायिक उपक्रमों को पूँजी बाजार से पूँजी एकत्रित करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उन्हें अभिगोपकों तथा स्कन्ध बाजार के दलालों की सहायता से ऊँची लागत पर अंश पूँजी एकत्रित करनी पड़ती है। इसलिये नये व्यावसायिक

उपक्रमों के पूँजी ढाँचे में ऋण पूँजी का मिश्रण लेशमात्र भी नहीं होता। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है– यदि नई फर्म ऋणपत्रों को जारी करके पर्याप्त पूँजी भुगतान करने की स्थिति में है, तो भी प्रारम्भिक वर्षों में वित्तीय प्रबन्धक को अधिक ऋण का प्रयोग नहीं करना चाहिये अन्यथा व्यावसायिक उपक्रम की प्रारम्भ की अधिकांश आय ब्याज की राशि भुगतान करने में प्रयोग हो जायेगी और भावी आवश्यकताओं के लिये तथा लाभांश के लिये कम आय उपलब्ध हो सकेगी। भविष्य में व्यावसायिक उपक्रम के लिये अतिरिक्त पूँजी प्राप्त करने का अवसर भी कम हो जाता है। इसके विपरीत पुराने व्यावसायिक उपक्रम को पूँजी संग्रह करने में अपेक्षाकृत कम कठिनाई होती है। सफल व्यावसायिक उपक्रमों की वित्तीय स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ होती है जिसके कारण उन्हें आंतरिक स्रोतों से प्रचुर कोष प्राप्त होने की सुविधा होती है। इसके अतिरिक्त ये व्यावसायिक उपक्रम ऋणपत्रों को निर्गमित करके अतिरिक्त पूँजी की आवश्यकता की पूर्ति करते हैं क्योंकि इससे उन्हें समता पर व्यापार के समस्त लाभ उपलब्ध होते हैं। पुराने व्यावसायिक उपक्रमों के पूँजी ढांचे में ऋण पूँजी का मिश्रण अपेक्षाकृत अधिक होता है।

(8) कम्पनी के कोषों में तरलता– लाभांश घोषित करने के पूर्व वित्तीय प्रबन्धक को व्यावसायिक उपक्रम की तरल स्थिति तथा चालू पूँजी की आवश्यकता का सूक्ष्म अध्ययन करना चाहिये। व्यावसायिक उपक्रम को प्रत्येक समय समुचित मात्रा में नकद रूप में कोष रखना आवश्यक होता है जिससे दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में कोई कठिनाई न हो। अधिक आय प्राप्त करने पर भी यदि व्यावसायिक उपक्रम के पास पर्याप्त मात्रा में नकद राशि नहीं है तो ऐसी स्थिति में प्रबन्धक को या तो लाभांश की दर में कमी लानी चाहिये अथवा बोनस अंशों के रूप में लाभांश वितरित करना चाहिये।

कभी–कभी कम्पनी के पास लाभांश वितरित करने के लिये पर्याप्त मात्रा में रकम उपलब्ध होती है परन्तु उसकी आवश्यकता व्यावसायिक उपक्रम के लिये कच्चे माल क्रय करने, व्यापारिक बिलों का भुगतान करने अथवा बैंक ऋणों के भुगतान करने के लिये पड़ती है। इसलिये वित्तीय प्रबंधक को नकद रूप में लाभांश वितरित करने के पूर्व व्यापार की अन्य आवश्यकताओं को ध्यान में रखना आवश्यक है।

(9) ऋण अनुबंध सम्बन्धी प्रतिबन्ध– यदि व्यावसायिक उपक्रम ने पिछले वर्षों में किसी वित्तीय संस्थान से दीर्घावधि ऋण प्राप्त किया है, और ऋण अनुबन्ध में पूँजी के स्वरूप अथवा लाभांश वितरण के सम्बन्ध में शर्तें लगाई गई हैं तो ऐसी दशा में व्यावसायिक उपक्रम के वित्तीय प्रबंधक को लाभांश सम्बन्धी निर्णय लेते समय यह देखना आवश्यक होगा, कि किसी शर्त का उल्लंघन तो नहीं हो रहा है?

(10) नियंत्रण तत्व– यदि व्यावसायिक उपक्रम के कुछ अंशधारी, जो प्रमुख रूप से सम्पूर्ण व्यापार का नियंत्रण करते हैं, यह नहीं चाहते, कि भविष्य में यह नियन्त्रण अन्य व्यक्तियों के हाथ में चला जाये तो ऐसी दशा में वित्तीय प्रबन्धक को अतिरिक्त पूँजी के लिये ऋणपत्रों का निर्गमन करना होगा अथवा आन्तरिक स्रोतों पर निर्भर रहना पड़ेगा क्योंकि अतिरिक्त अंशों के निर्गमन से वर्तमान अंशधारियों के नियन्त्रण अधिकार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इसके साथ ही साथ लाभांश की कठोर नीति का अनुसरण करना होगा, जिससे आय का अधिकांश भाग संचित करके पूँजी की आवश्यकता की पूर्ति की जा सके।

(11) प्रबन्ध की अभिवृत्ति– व्यावहारिक जगत में किसी व्यावसायिक उपक्रम में लिये जाने वाले सभी वित्तीय निर्णयों पर व्यावसायिक उपक्रम के शीर्ष प्रबन्ध की अभिवृत्ति और उनके व्यक्तिगत निर्णय का अधिक प्रभाव पड़ता हैं। कभी–कभी व्यावसायिक उपक्रम में ऐसे

निर्णय ले लिये जाते हैं, जो वित्तीय प्रबन्धकों के व्यक्तिगत स्वार्थ की रक्षा कर सकें भले ही वे वित्तीय सिद्धान्त के प्रतिकूल हों।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है, कि व्यावसायिक उपक्रमों में वित्तीय प्रबन्धक को वित्तीय मामलों के सम्बन्ध में निर्णय लेते समय समस्त सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक बातों पर विस्तारपूर्वक विचार-विमर्श करना चाहिये। उसके द्वारा लिये गये विभिन्न वित्तीय निर्णय व्यावसायिक उपक्रम की सफलता अथवा असफलता को निर्धारित करते हैं। वित्तीय प्रबन्धक को चाहिये, कि वह श्रेष्ठ स्तर के वित्तीय निर्णय ले जिससे व्यावसायिक उपक्रम के अन्तिम लक्ष्य 'सम्पदा में वृद्धि' की प्राप्ति की जा सके और अंशधारियों को भी समुचित दर से लाभांश का वितरण किया जा सके।

प्रश्न–6. वित्तीय नियोजन से आप क्या समझते हैं? इसकी विशेषताओं का वर्णन कीजिये।

अथवा

वित्तीय योजना की परिभाषा दीजिये। एक श्रेष्ठ वित्तीय योजना के लक्षण बताइये।

अथवा

वित्तीय योजना से आपका क्या तात्पर्य है? एक उत्तम वित्तीय योजना के क्या लक्षण हैं?

उत्तर– वित्त उद्योग अथवा व्यवसाय का जीवन-रक्त है। उद्योग का आकार छोटा हो अथवा बड़ा, वह तब तक सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकता जब तक कि उसके पास पर्याप्त मात्रा में वित्त उपलब्ध न हो। किसी भी उद्योग की स्थापना से लेकर संचालन, विकास, विस्तार तथा उसके समापन तक सभी परिस्थितियों में वित्त की आवश्यकता होती है। आवश्यकता पड़ने पर सही समय पर यदि पर्याप्त मात्रा में वित्त उपलब्ध न करवाया जाये तो विकास की अच्छी से अच्छी योजनायें असफल हो जाती हैं। इसलिये समुचित वित्त-प्रबन्धन के लिये वित्तीय योजनायें बनाई जाती हैं। वित्तीय योजनाओं में निम्नलिखित तीन बातों को शामिल किया जाता है–

(1) पूँजी की आवश्यक मात्रा का अनुमान लगाना अर्थात् पूँजीकरण करना।
(2) पूँजी के स्वरूप तथा विभिन्न प्रतिभूतियों का पारस्परिक अनुपात निश्चित करना अर्थात् पूँजी संरचना करना तथा
(3) पूँजी को एकत्रित करना तथा उसे स्थायी व कार्यशील सम्पत्तियों में विनियोजित करना।

जे. एच. बोनेविले ने वित्तीय नियोजन को इस प्रकार परिभाषित किया है– 'एक निगम की वित्तीय योजना के दो पहलू होते हैं– एक, यह निगम के पूँजी संगठन को संकेत करती है तथा दूसरे, यह निगम द्वारा अपनायी गयी अथवा अपनाई जाने वाली वित्तीय नीतियों को स्पष्ट करती है।'

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि वित्तीय नियोजन का तात्पर्य किसी भी नवीन प्रवर्तनीय व्यापार अथवा उद्योग के प्रारम्भिक सम्पत्ति, संगठन, वैधानिक संचालन व्यय, स्थायी व कार्यशील पूँजी का वर्तमान तथा भावी विकास, के लिये उचित अनुमान लगाना तथा उसको प्राप्त करने के लिये यथासम्भव स्रोतों के सही विश्लेषण से है। और भी सरल शब्दों में, ऐसी योजना जिसमें वित्त सम्बन्धी पहलुओं पर विचार किया जाता है तथा इससे सम्बन्धी विभिन्न प्रकार के निर्णय लिये जाते हैं, वित्तीय योजना कहलाती है। वित्तीय योजना द्वारा यह मालूम किया जाता है, कि कब कितनी मात्रा में वित्त की व्यवस्था किन-किन स्रोतों से की जायेगी? संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि वित्तीय योजना वह योजना है, जिसमें हम इस बात पर प्रारम्भ में ही विचार करते हैं कि वित्त किन-किन स्रोतों से प्राप्त किया जायेगा तथा उसे किन-किन मदों पर व्यय किया जायेगा?

परिभाषा

जे.एच. बोनेविले के अनुसार, 'एक निगम की वित्तीय योजना के दो पहलू होते हैं, यह न केवल निगम की पूँजी संरचना की ओर संकेत करती है, अपितु यह निगम द्वारा अपनायी गयी अथवा अपनायी जाने वाली वित्तीय नीतियों को भी स्पष्ट करती है।'

इस परिभाषा से दो बातें स्पष्ट होती हैं, प्रथम पूँजी संरचना तथा द्वितीय, वित्तीय नीतियाँ, लेकिन यह परिभाषा वित्तीय योजना की सम्पूर्ण विशेषताओं को स्पष्ट नहीं करती। वास्तव में, वित्तीय योजना के अन्तर्गत वित्तीय उद्देश्य, वित्तीय नीतियाँ आदि सभी को सम्मिलित किया जाता है। वित्तीय योजना में निम्नलिखित बातें शामिल होती हैं–

(1) वित्त की आवश्यक मात्रा का अनुमान, (2) वित्त के उचित प्रशासन एवं प्रबन्ध सम्बन्धी नीतियों का निर्धारण, (3) वित्त के स्वरूप का निर्धारण।

अतः वित्तीय योजना में सर्वप्रथम वित्त की आवश्यकता के सम्बन्ध में अनुमान लगाया जाता है तत्पश्चात् इस बात पर विचार किया जाता है कि इस वित्त की कितनी पूर्ति समता अंशों द्वारा कितनी पूर्वाधिकार अंशों द्वारा तथा कितनी ऋण पूँजी द्वारा की जायेगी? साथ ही साथ वित्तीय योजना के अन्तर्गत इस बात पर भी विचार किया जाता है कि उपलब्ध वित्त का कितना भाग चल सम्पत्तियों पर तथा कितना भाग स्थायी सम्पत्तियों पर व्यय किया जायेगा?

एक आदर्श वित्तीय योजना के लक्षण या विशेषतायें

किसी भी उपक्रम की सफलता व असफलता उसकी वित्तीय योजना पर निर्भर करती है। अतः प्रबन्धकों को पर्याप्त सोच-विचार करके इस हेतु एक सुनियोजित योजना बनानी चाहिये। एक आदर्श वित्तीय योजना में निम्नलिखित आवश्यक लक्षणों का समावेश होना चाहिये–

(1) **सरलता–** वित्तीय योजना में सरलता का गुण अवश्य होना चाहिये। इस योजना के सरल होने से प्रतिभूतियों के विक्रय में किसी भी प्रकार की परेशानी नहीं होती। यदि वित्तीय योजना के अन्तर्गत धन प्राप्त करने के लिये निर्गमित की जाने वाली प्रतिभूतियों का स्वरूप सरल नहीं है तो उसके सामने भविष्य में काफी परेशानियाँ आ सकती हैं। इसी कारण से वित्तीय योजना का सरल होना अति आवश्यक है।
(2) **उपयोगिता–** वित्तीय योजना का यह महत्वपूर्ण लक्षण है। वित्तीय योजना उपयोगी होनी चाहिये। संस्था के हित के अनुकूल योजना होनी चाहिये। योजना उपयोगी तब समझी जाती है, जबकि वित्तीय योजना में जो बातें निश्चित की जायें उसके अनुसार ही वित्त एकत्रित किया जाये तथा उसके अनुसार ही इसका उपयोग किया जाये।
(3) **पूर्णतः** वित्तीय योजना बनाते समय इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिये कि योजना में पूर्णता हो। यदि योजना पूर्ण होगी तो उपक्रम के सामने किसी भी प्रकार का वित्तीय संकट उत्पन्न नहीं हो सकेगा।
(4) **लोचपूर्णता–** वित्तीय योजना लोचपूर्ण भी होनी चाहिये अर्थात् योजना ऐसी होनी चाहिये जिसमें भविष्य में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सके जिससे कि उपक्रम के विस्तार एवं संकुचन की दशा में, उपक्रम के सामने वित्तीय समस्या खड़ी नहीं हो।
(5) **मितव्ययिता–** वित्तीय योजना में पूँजी प्राप्त करने व प्रतिभूतियों के निर्गमन के सम्बन्ध में किये जाने वाले व्ययों को कम से कम (मितव्ययितापूर्ण) किया जाना चाहिये।

(6) तरलता– वित्तीय योजना में तरलता को अधिक महत्व दिया जाना चाहिये। सामान्यतः वित्तीय साधनों में नकदी व साख सुविधा दोनों को ही शामिल किया जाता है। इनमें से नकदी संस्था की तरलता के लिये अधिक महत्वपूर्ण होती है।

(7) आकस्मिक घटनाओं का पूर्वानुमान– एक सुदृढ़ वित्तीय योजना में हमेशा भावी आकस्मिक घटनाओं को ध्यान में रखती है और उसके लिये उचित प्रावधान करती है। इन आकस्मिक घटनाओं के लिये पहले से ही प्रावधान इसलिये कर लेना चाहिये, क्योंकि इनका उपक्रम की वित्तीय स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(8) दूरदर्शिता– वित्तीय योजना भावी कार्यक्रमों को ध्यान में रखकर तैयार की जानी चाहिये। योजना के दूरदर्शितापूर्ण होने पर इसमें जल्दी-जल्दी परिवर्तन की आशा नहीं की जा सकती। उपक्रम को उतनी मात्रा में वित्त उपलब्ध करना चाहिये जिससे उसके सम्मुख किसी भी प्रकार का वित्तीय संकट उत्पन्न न हो सके। वित्तीय योजना बनाते समय इस बात पर विचार करना चाहिये कि यदि संस्था का आकार बढ़ेगा तो और वित्त की व्यवस्था कहाँ से की जायेगी? तथा यदि संस्था का आकार छोटा हो जायेगा तो अतिरिक्त वित्त को कहाँ विनियोजित किया जायेगा?

(9) सरकारी नीतियों एवं नियमों के अनुकूल– एक अच्छी वित्तीय योजना सरकारी नीतियों एवं नियमों के अनुकूल होनी चाहिये।

प्रश्न–7. वित्तीय आयोजन से क्या आशय है? अल्पकालीन नियोजन एवं दीर्घकालीन नियोजन में अन्तर स्पष्ट कीजिये एवं वित्तीय आयोजन की विशेषतायें एवं सीमायें बताइये।

अथवा

वित्तीय नियोजन से आप क्या समझते हैं? अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन वित्तीय नियोजन के अन्तर को स्पष्ट कीजिये।

अथवा

वित्तीय योजना (आयोजन) से आप क्या समझते हैं? किसी व्यवसाय के सफल संचालन के लिये यह क्यों आवश्यक है? किसी कम्पनी की वित्तीय आयोजना किन घटकों से प्रभावित होती है?

अथवा

'वित्तीय आयोजन सफल व्यावसायिक कार्यों की कुंजी है।' समझाइये।

उत्तर– वित्तीय नियोजन का आशय– वित्तीय नियोजन का आशय किसी उपक्रम के लिये आवश्यक पूँजी की कुल राशि का पूर्वानुमान लगाना तथा उसके स्वरूप के सम्बन्ध में निर्णय लेने की प्रक्रिया से है। दूसरे शब्दों में नियोजन का आशय व्यवसाय के लक्ष्यों अथवा उद्देश्य के निर्धारण तथा उपलब्ध विभिन्न विकल्पों में से सर्वोत्तम विकल्प का चयन करने तथा उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये नीतियों एवं कार्यक्रमों के निर्धारण से है।

परिभाषा– बॉकर एवं बॉन के अनुसार– "वित्तीय आयोजन वित्त-कार्य से सम्बन्धित है, जिनमें फर्म के वित्तीय लक्ष्यों का निर्धारण, वित्तीय नीतियों का निर्माण तथा वित्तीय प्रविधियों का विकास सम्मिलित है।" इस प्रकार इस परिभाषा के अनुसार वित्तीय आयोजन में निम्नलिखित तथ्यों का समावेश होता है–

1. **वित्तीय लक्ष्यों का निर्धारण–** किसी भी व्यावसायिक संस्था का दीर्घकालीन लक्ष्य उसके उत्पादक साधनों का अधिकतम क्षमता पर मितव्ययतापूर्वक उपयोग करना है। यह तभी सम्भव हो सकता है, जबकि संस्था को उचित समय पर कम से कम लागत पर पर्याप्त पूँजी उपलब्ध हो। अतः दीर्घकालीन लक्ष्य पूँजीकरण तथा पूँजी

ढाँचे के स्वरूप को निर्धारित करना है। संस्था का अल्पकालीन वित्तीय लक्ष्य संस्था की प्रत्येक क्रिया के लिये नकदी की व्यवस्था करना जिसे कार्यशील पूँजी का प्रबन्ध भी कहते है।

2. **वित्तीय नीतियों का निर्माण–** वित्तीय आयोजन का दूसरा पहलू वित्तीय नीतियों का निर्धारण करना है, जिससे संस्था अपने वित्तीय लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक हो। इन नीतियों में पूँजी की आवश्यक मात्रा निर्धारित करने, ऋण एवं स्वामित्व पूँजी का परस्पर अनुपात निश्चित करने, पूँजी के विभिन्न स्त्रोतों का चुनाव करने, आय का वितरण करने तथा स्थायी एवं चालू सम्पत्तियों के कुशल प्रबन्ध सम्बन्धी नीतियाँ सम्मिलित है।
3. **वित्तीय प्रविधियों का विकास–** यह वित्तीय आयोजन का तीसरा पहलू है, जिसमें विभिन्न वित्तीय कार्यों को छोटे-छोटे उपविभागों में बाँटा जाता है। तत्पश्चात् इन कार्यों को अधिकारियों में बाँटकर उनके वित्तीय निष्पादन एवं नियन्त्रण की व्यवस्था की जाती है। इस कार्य के लिये बजटरी नियन्त्रण, लागत नियन्त्रण, वित्तीय लेखों का निर्वचन एवं विश्लेषण आदि तकनीकों का प्रयोग किया जाता है।

ऑर्थर एस. डेविंग ने वित्तीय आयोजन में निम्नलिखित तीन बातों का समावेश बताया है–

1. पूँजी की आवश्यक मात्रा का अनुमान लगाना, अर्थात् पूँजीकरण निश्चित करना।
2. पूँजी के विभिन्न स्त्रोत निश्चित करना तथा प्रतिभूतियों का पारस्परिक अनुपात अर्थात् पूँजी संरचना निश्चित करना।
3. पूँजी के प्रशासन एवं प्रबन्ध की उचित नीतियाँ निर्धारित करना।

वित्तीय आयोजन अथवा योजना की आवश्यकता एवं महत्व– वित्तीय आयोजन एक आवश्यक और महत्वपूर्ण वित्तीय प्रक्रिया है। इसके दीर्घकालीन, मध्यकालीन तथा अल्पकालीन वित्तीय योजनाओं के सभी पहलुओं जैसे उपक्रम की लाभदायकता, उपार्जन क्षमता तथा शोधन क्षमता को प्रभावित करते हैं। जे. बैंटी के शब्दों में, "व्यवसाय में नकदी का पर्याप्त कोष। तथा अनवरत प्रवाह अति आवश्यक है। हर समय व्यावसायिक फर्म को अपने दायित्वों का भुगतान करने में समर्थ होना चाहिये। चाहे विस्तार की स्थिति हो, प्रतिस्पर्धा का वातावरण हो, नये उत्पादन का प्रश्न हो अथवा आधुनिकीकरण का प्रश्न हो, फर्म को वित्त की आवश्यकता रहती है, और पर्याप्त वित्त की समयानुकूल व्यवस्था करने के लिये वित्तीय आयोजन आवश्यक है।"

वित्तीय आयोजन की आवश्यकता निम्न कारणों से उत्पन्न होती है–

1. खर्चों, आवश्यकताओं और कार्यशील पूँजी के स्तर में उतार-चढ़ावों को पूरा करने के लिये पर्याप्त रोकड़ उपलब्ध कराने के लिये।
2. वर्ष भर तरलता बनाये रखने के लिये।
3. यह बताने के लिये कि कोषों की आवश्यकता कब और कहाँ होगी?
4. विस्तार के लिये बाहरी या विनियोग के लिये उपलब्ध आधिक्य कोषों को बताने के लिये।
5. आगे और अधिक कोषों की आवश्यकता का अनुमान लगाने के लिये।
6. संस्था को वित्त प्रदान करने वालों का उचित वित्तीय नीतियाँ अपनाकर विश्वास बढ़ाने के लिये।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त बॉकर एवं बॉन ने वित्तीय योजना की आवश्यकता के सम्बन्ध में अग्रलिखित कारण बताये है–

1. आधुनिक व्यावसायिक संस्था को गलाकाट प्रतियोगिता के युग में चलाना पड़ता है, जिससे संस्था को लाभ की सीमा कम ही रखनी पड़ती है। इसलिये भविष्य की प्रवृत्ति के बारे में सही पूर्वानुमान लगाना पड़ता है। अतः प्रबन्ध को लाभदायकता क्षेत्र में स्पष्ट निर्णय लेने होते हैं।
2. भविष्य में पुनर्स्थापित की जाने वाली सम्पत्तियों एवं भविष्य की बढ़ती हुई आवश्यकता के लिये नयी सम्पत्तियों के संस्थापन के सम्बन्ध में वर्तमान में ही आयोजन कर लेना चाहिये।
3. मूल विनियोग के पुनर्स्थापन की लागत के सम्बन्ध में ऐसी वित्तीय योजना की आवश्यकता होगी, जो सम्पत्ति को बनाये रखने के साथ-साथ उनका भविष्य में पुनर्स्थापन भी कर सके।
4. वित्त-कार्य सम्पूर्ण वितरण एवं उत्पादन कार्य की सफलता या विफलता को प्रभावित करता है। इसलिये यह अत्यन्त आवश्यक है, कि प्रत्येक वित्तीय क्रिया को सावधानीपूर्वक नियोजित किया जाये।
5. निजी क्षेत्र की संस्था के लिये भी उपयुक्त वित्तीय योजना बनाना आवश्यक हो गया है, ताकि समय पर पर्याप्त कोष प्राप्त किये जा सकें।

संक्षेप में वित्तीय आयोजन की आवश्यकता के पक्ष में निम्न तर्क दिये जा सकते हैं-

1. पूँजी की सुरक्षा, 2. संचालन क्रियाओं में मितव्ययिता और समन्वय,
3. मूल्य स्तर में परिवर्तन, 4. उपक्रम की सफलता,
5. सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार।

व्यवसाय के संचालन में वित्तीय आयोजन या योजना की आवश्यकता- किसी भी व्यवसाय की सफलता अथवा असफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसके उपलब्ध साधनों का अनुकूलतम ढंग से उपयोग किया जाये। यह तभी सम्भव है, जबकि उपक्रम की वित्तीय योजना में वर्तमान तथा भावी पूँजी सम्बन्धी आवश्यकताओं का सही अनुमान लगाया जाये। व्यवसाय से उत्तम परिणाम प्राप्त करने एवं अधिकतम लाभोपार्जन हेतु वित्तीय योजना का होना नितान्त आवश्यक है। वित्त आधुनिक व्यवसाय का जीवन-रक्त है। इसका होना व्यवसाय के लिये उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना कि रक्त का मानव शरीर के लिये होना है। यह एक सर्वमान्य तथ्य है, कि रक्त की मात्रा एवं किस्म मानव-शरीर के क्रिया- कलापों को प्रभावित करती है। अतः यह आवश्यक है, कि इस तरफ समुचित ध्यान दिया जाये। एक व्यवसाय को वित्त की मात्रा एवं किस्म दोनों की तरफ पर्याप्त ध्यान देना अति आवश्यक है। इस विवरण के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण बातें इस प्रकार हैं-

1. व्यवसाय के पास सदैव पर्याप्त वित्त उपलब्ध रहना चाहिये, ताकि यह कोषों के अभाव में व्यावसायिक सुअवसरों से वंचित न रहे, और न ही वित्त के अभाव में अनावश्यक परेशानी का सामना करना पड़े।
2. व्यवसाय के कोषों की आवश्यकता पृथक-पृथक समयों के लिये होती है, कुछ अल्पकाल के लिये कुछ दीर्घकाल के लिये। इसलिये जो भी कोष उपलब्ध हों, वे इन जरूरतों को पूरा कर सकें, जिससे व्यवसाय को अनावश्यक कठिनाईयों का सामना न करना पड़े। पर्याप्त कोषों के होने का तात्पर्य यह नहीं है, कि कोष फालतू रहे। कोषों की उपलब्धि एवं कोषों का उपयोग दोनों ही क्रमशः ध्यान में रखना चाहिये।
3. व्यवसाय के कोष विभिन्न साधनों से प्राप्त किये जाते हैं, जैसे- स्वामियों से एवं ऋण लेकर। अतः इन विभिन्न प्रकार के साधनों का मिश्रण इस प्रकार से होना चाहिये, कि व्यवसाय को उनका सर्वोत्तम लाभ मिल सके। कोषों के इस मिश्रण का व्यवसाय एवं व्यवसाय के तरीकों पर बहुत प्रभाव पड़ता है।
4. इस प्रकार उपलब्ध कोषों का सर्वोत्तम उपयोग किया जाना चाहिये। अन्यथा उनसे प्रत्याय अनुकूलतम से कम या अपर्याप्त होगी। इससे कोषों की वर्तमान प्राप्ति ही प्रभावित नहीं होगी अपितु विनियोक्ताओं भविष्य में व्यवसाय में विनियोग करने की इच्छा भी प्रभावित होगी। और व्यवसाय के लिये कोष प्राप्त करना एवं वर्तमान कोषों का बनाये रखना कठिन हो जायेगा।

उपर्युक्त चारों बातों को ध्यान में रखते हुये व्यवसाय के संचालन से अनुकूलतम परिणाम प्राप्त करने के लिये वित्तीय नियोजन की आवश्यकता पड़ती है। वित्तीय नियोजन के अन्तर्गत संस्था की प्रवर्तन के समय की वित्त सम्बन्धी आवश्यकताओं के साथ-साथ उसकी भविष्य की आवश्यकताओं को भी ध्यान में रखकर उनके लिये वित्त की व्यवस्था करनी पड़ती है। व्यवसाय की भावी सफलता एवं असफलता इस वित्तीय नियोजन की सुदृढ़ता पर निर्भर करती है। यदि वित्तीय नियोजन, पर्याप्त ज्ञान, अनुभव तथा दूरदर्शिता के आधार पर किया गया है, तो यह संस्था के भविष्य के लिये वरदान सिद्ध होगा।

अल्पकालीन वित्तीय नियोजन एवं दीर्घकालीन वित्तीय नियोजन में अन्तर

अल्पकालीन वित्तीय आयोजन	दीर्घकालीन वित्तीय आयोजन
1. इसकी अवधि एक वर्ष अथवा इससे भी कम होती है।	1. ऐसा आयोजन एक वर्ष से अधिक के लिये किया जाता है, तथा सामान्यता इसकी अवधि तीन से लगातार पाँच वर्ष या इससे अधिक होती है।
2. इसका सम्बन्ध मुख्यतया कार्यशाली पूँजी से होता है, जिसके अन्तर्गत चल सम्पत्तियों के लिये आवश्यक कोषों का आयोजन किया जाता है।	2. इसका सम्बन्ध दीर्घकालीन कोषों की समुचित व्यवस्था से होता है। उत्पादन अथवा व्यवसाय संचालन के लिये आवश्यक स्थिर सम्पत्तियों की व्यवस्था के लिये ऐसे कोषों की आवश्यकता होती है।
3. निकट भविष्य के लिये संगणित किये गये पूर्वानुमान अधिक सही एवं सटीक हो सकते हैं, यद्यपि आवश्यक फेरबदल के लिये ऐसी योजना का न्यूनाधिक रूप में लोचपूर्ण होना आवश्यक होता है।	3. इसके अन्तर्गत पूर्वानुमानों का आकलन मोटे तौर पर किया जाता है, और वे उतने नपे-तुले एवं विस्तृत नहीं होते हैं। अतः दीर्घकालीन वित्तीय योजनाओं को अत्यन्त लोचपूर्ण बनाया जाता है।
4. यथा सम्भव सही पूर्वानुमानों के कारण ऐसी योजनाओं में अनिश्चितता एवं जोखिम की मात्रा कम होती है। अतः अल्पकालीन वित्तीय आयोजन अपेक्षाकृत सरल कार्य है।	4. सुदूर भविष्य के लिये परिस्थितियों का सही आकलन करना एक अत्यन्त कठिन कार्य है। अतः दीर्घकालीन वित्तीय योजनाओं को अन्तर्निहित, अनिश्चितता एंव जोखिम की मात्रा को ध्यान में रखकर ही बनाया जाता है।

5. अल्पकालीन वित्तीय नियोजन वस्तुतः कार्यशील पूँजी के प्रबन्ध से सम्बद्ध नीतियों एवं रीतियों के अग्रिम नियोजन से जुड़ा हुआ होता है, जिसके अन्तर्गत बैंक साख, व्यापार साख, एवं अन्य साधनों से चल सम्पत्तियों के लिये आवश्यक कोषों की समुचित व्यवस्था की पहले से तैयारी की जाती है।	5. दीर्घकालीन वित्तीय आयोजन के अन्तर्गत सर्वप्रथम कुल पूँजीकरण की राशि का अनुमान लगाया जाता है, और उसके बाद पूँजी गीयरिंग अथवा पूँजी ढाँचे के निर्माण की प्रक्रिया पूरी की जाती है। वित्तीय नीतियों एवं प्रक्रियाओं का निर्धारण भी ऐसे आयोजन का प्रमुख अंग माना जाता है।

वित्तीय योजना को प्रभावित करने वाले घटक– वित्तीय योजना का निर्माण वित्तीय प्रबन्ध के क्षेत्र में पहला कार्य होता है। यह मुख्य रूप से तीन उद्देश्यों की पूर्ति करता है–

(अ) पर्याप्त पूँजी की व्यवस्था करने हेतु।
(ब) न्यूनतम लागत पर पूँजी एकत्रित करने हेतु।
(स) लागत और जोखिम में सन्तुलन स्थापित करने में।

किसी भी उपक्रम की वित्तीय योजना निम्नलिखित घटकों से प्रभावित होती है–

(1) उद्योग की प्रकृति। (2) जोखिम की मात्रा।
(3) औद्योगिक इकाई की परिस्थिति। (4) विभिन्न वित्तीय साधनों का मूल्यांकन।
(5) प्रबन्धकों का दृष्टिकोण। (6) भावी विस्तार की योजनायें।
(7) रूढ़िवादी पूँजी का कलेवर हो। (8) बाह्य पूँजी आवश्यकता की मात्रा।
(9) राजकीय नियंत्रण।

वित्तीय आयोजन की सीमायें– प्रत्येक वित्तीय आयोजन में कुछ सीमायें होती हैं जिनमें से कुछ सीमायें निम्न प्रकार हैं–

(1) सभी वित्तीय योजनायें, वित्तीय पूर्वानुमानों पर आधारित होती हैं और भविष्य के विषय में कभी भी पूर्ण रूप से नहीं कहा जा सकता। यदि पूर्वानुमान त्रुटिपूर्ण निकलते हैं तो वित्तीय आयोजना भी प्रभावहीन सिद्ध होती है।
(2) यदि वित्तीय आयोजना के सफल क्रियान्वयन के लिये उत्तरदायी अधिकारी परस्पर सहयोग एवं समन्वय से काम नहीं करते हैं तब भी वित्तीय आयोजना असफल होती है।
(3) व्यवहार में वित्तीय प्रबन्ध, वित्तीय योजना के प्रति कठोर दृष्टिकोण अपनाता है और वह इसमें सामयिक परिवर्तन करने को भी तैयार नहीं होता, अतः इसलिये भी योजना कुछ-कुछ प्रभावहीन होने लगती है।

लघुउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–(1) वित्त कार्य से आप क्या समझते हैं?

उत्तर– वित्त–कार्य का अर्थ– पुरानी विचारधारा के अनुसार, वित्त–कार्य से आशय किसी भी व्यावसायिक संस्था के लिये वित्त की व्यवस्था करने से है। परन्तु आधुनिक विचारधारा के अनुसार वित्त–कार्य में व्यवसाय के लिये न केवल समुचित पूँजी की व्यवस्था करनी होती है बल्कि यह भी देखना होता है कि उसका उपयोग समुचित एवं प्रभावी ढंग से हो रहा है अथवा नहीं?

वित्त–कार्य की परम्परागत विचारधारा– वित्त–कार्य की परम्परागत विचारधारा का विकास इस शताब्दी की शुरूआत के साथ हुआ, जो कि इस शताब्दी के पाँचवे दशक तक

प्रचलित रही। परम्परागत विचारधारा के अनुसार वित्त–कार्य से आशय व्यवसाय के लिये आवश्यक कोषों, अर्थात् पूँजी की व्यवस्था करने से है। इस विचारधारा के अनुसार वित्त–कार्य केवल पूँजी का संग्रह करने तक ही सीमित है जिससे उपक्रम को धन की कमी का सामना न करना पड़े। इस दृष्टि से वित्तीय प्रबन्धक का प्रमुख कार्य केवल यह देखना है कि उपक्रम अपने दायित्वों के भुगतान के लिये पर्याप्त तरलता रखता है या नहीं? इस प्रकार परम्परागत विचारधारा में वित्त–कार्य के अन्तर्गत पूँजी अथवा कोषों के संग्रहण को सबसे ज्यादा महत्व दिया जाता है।

वित्त–कार्य की आधुनिक विचारधारा– वित्त–कार्य की आधुनिक विचारधारा के अनुसार वित्त का कार्य केवल कोषों के संग्रह करने तक ही सीमित नहीं है बल्कि इससे कहीं अधिक व्यापक है। व्यवसाय के उद्देश्य की पूर्ति के लिये कोषों का प्रभावपूर्ण उपयोग करना वित्त के कार्यक्षेत्रों में ही शामिल किया जाता है। नई विचारधारा के अनुसार वित्तीय प्रबन्धकों का दायित्व केवल कोषों अथवा पूँजी का संग्रह करना ही नहीं बल्कि पूँजी का व्यापार में प्रभावपूर्ण एवं कुशलतम उपयोग करना भी है।

प्रश्न–(2) वित्त कार्य के उद्देश्य बताइये।

उत्तर– वित्त–कार्य के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1. **व्यवसाय की स्थापना–** किसी भी व्यवसाय की स्थापना करने के पूर्व प्रारम्भिक अनुसंधान एवं जाँच–पड़ताल कराने, व्यवसाय का पंजीयन कराने हेतु धन की आवश्यकता होती है। इन्हीं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये वित्त की व्यवस्था की जाती है।
2. **स्थायी सम्पत्ति के क्रय के लिये–** जब किसी व्यवसाय की स्थापना की जाती है तो भूमि, भवन, संयंत्र आदि स्थायी सम्पत्ति को क्रय करने हेतु वित्त की आवश्यकता पड़ती है। यह वित्त–कार्य का प्रमुख स्रोत है।
3. **कार्यशील पूँजी–** व्यवसाय में स्थायी सम्पत्तियों में धन के विनियोजन के बाद व्यवसाय को चालू रखने के लिये धन की आवश्यकता होती है। जैसे– कच्चा माल खरीदने के लिये, कर्मचारियों को वेतन चुकाने हेतु आदि। यह पूँजी हमेशा प्रवाह में रहती है।
4. **लाभ को अधिकतम करना–** वित्त–कार्य का उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना होता है ताकि स्वामियों को उनकी विनियोजित पूँजी पर अधिकतम प्रतिफल मिल सके।
5. **मूल्यों को अधिकतम करना–** अमेरिका के वित्त–प्रबन्ध के विशेषज्ञ **प्रो. सोलोमन** एजरा एक व्यवसाय के वित्तीय–प्रबन्ध का उद्देश्य उसके मूल्य को अधिकतम करना मानते हैं। अतः वित्तीय प्रबन्धक का यह उत्तरदायित्व है कि वह ऐसा कार्य करे जिससे उपक्रम की सम्पत्ति के मूल्य में वृद्धि हो।

प्रश्न–(3) वित्तीय प्रबन्ध की सीमायें बताइये।

उत्तर– वित्तीय प्रबन्ध का अत्यधिक महत्व होते हुये भी वित्तीय प्रबन्ध की कुछ सीमायें हैं जिनको ध्यान में रखा जाना चाहिये। वित्तीय प्रबन्ध की प्रमुख सीमायें निम्नलिखित हैं–

(1) सभी प्रबन्धकीय निर्णयों के वित्तीय प्रभाव जानना जटिल– एक उपक्रम में प्रबन्ध के जितने कार्यात्मक क्षेत्र हैं, उन सभी के निर्णय वित्तीय प्रभाव रखते हैं, इसलिये वित्तीय प्रबन्धक के लिये समस्त कार्यात्मक प्रबन्धकीय निर्णयों के प्रभावों को जानना तथा उन सभी में समन्वय स्थापित करना काफी जटिल कार्य होता है।

(2) वित्तीय लेखों पर आधारित– एक उपक्रम में वित्तीय प्रबन्ध के लिये वित्तीय विश्लेषण एवं निर्वचन की अनेक तकनीकें प्रयोग में लायी जाती हैं जो वित्त लेखों पर आधारित होती हैं। वित्तीय लेखे भूतकाल से सम्बन्धित होते हैं, तथा लेखांकन परम्पराओं एवं नीतियों से प्रभावित रहते हैं। इसलिये वित्तीय लेखों पर आधारित वित्तीय निर्णय इनमें व्याप्त दोषों से ग्रसित रहते हैं।

(3) सम्बन्धित विषयों का कम ज्ञान– वित्तीय प्रबन्ध के सही उद्देश्य उसी दशा में प्राप्त हो सकते हैं, जब वित्तीय प्रबन्धकों को प्रबन्ध, प्रबन्ध-लेखांकन, सांख्यिकी, अर्थशास्त्र, अभियान्त्रिकी आदि का अच्छा ज्ञान हो। इनके ज्ञान के बिना उच्च प्रबन्ध उचित निर्णय लेने एवं उनके वित्तीय प्रभाव को ज्ञात करने में सक्षम नहीं होगा।

(4) वस्तुनिष्ठता का अभाव– वित्तीय प्रबन्ध पूर्णरूपेण वस्तुनिष्ठ नहीं है। उपक्रम में वित्तीय प्रबन्ध के निर्णय वित्तीय प्रबन्धकों के व्यक्तिगत विचारों एवं भावनाओं से प्रभावित होते हैं और जब इनकी मात्रा अधिक हो जाती है तो वित्तीय निर्णय उपक्रम के लिये अच्छे परिणाम कम एवं बुरे परिणाम अधिक देते हैं।

(5) विकासशील विषय– वित्तीय प्रबन्ध पूर्णरूपेण विकसित नहीं है एवं वित्तीय प्रबंध का अभी विकास हो रहा है। अनेक विचारों एवं धारणाओं के बारे में विशेषज्ञ एक राय नहीं हैं। वित्तीय विश्लेषण एवं निर्वचन के प्रमाप भी परिवर्तित हो रहे हैं।

प्रश्न–(4) एक आदर्श वित्तीय योजना की विशेषतायें बताइये।

उत्तर– एक आदर्श वित्तीय योजना में निम्नलिखित आवश्यक लक्षणों का समावेश होना चाहिये–

(1) सरलता– वित्तीय योजना में सरलता का गुण अवश्य होना चाहिये। इस योजना के सरल होने से प्रतिभूतियों के विक्रय में किसी भी प्रकार की परेशानी नहीं होती। यदि वित्तीय योजना के अन्तर्गत धन प्राप्त करने के लिये निर्गमित की जाने वाली प्रतिभूतियों का स्वरूप सरल नहीं है तो उसके सामने भविष्य में काफी परेशानियाँ आ सकती हैं। इसी कारण से वित्तीय योजना का सरल होना अति आवश्यक है।

(2) उपयोगिता– वित्तीय योजना का यह महत्वपूर्ण लक्षण है। वित्तीय योजना उपयोगी होनी चाहिये। संस्था के हित के अनुकूल योजना होनी चाहिये। योजना उपयोगी तब समझी जाती है, जबकि वित्तीय योजना में जो बातें निश्चित की जायें उसके अनुसार ही वित्त एकत्रित किया जाये तथा उसके अनुसार ही इसका उपयोग किया जाये।

(3) पूर्णतः वित्तीय योजना बनाते समय इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिये कि योजना में पूर्णता हो। यदि योजना पूर्ण होगी तो उपक्रम के सामने किसी भी प्रकार का वित्तीय संकट उत्पन्न नहीं हो सकेगा।

(4) लोचपूर्णता– वित्तीय योजना लोचपूर्ण भी होनी चाहिये अर्थात् योजना ऐसी होनी चाहिये जिसमें भविष्य में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सके जिससे कि उपक्रम के विस्तार एवं संकुचन की दशा में, उपक्रम के सामने वित्तीय समस्या खड़ी नहीं हो।

(5) मितव्ययिता– वित्तीय योजना में पूँजी प्राप्त करने व प्रतिभूतियों के निर्गमन के सम्बन्ध में किये जाने वाले व्ययों को कम से कम (मितव्ययितापूर्ण) किया जाना चाहिये।

इकाई-2

प्रश्न–1. पूँजी संरचना से आप क्या समझते हैं? एक कम्पनी की पूँजी संरचना को कौन-कौन से कारक निर्धारित करते हैं?

अथवा

पूँजी ढाँचे से आप क्या समझते हैं? इसका निर्माण किस प्रकार किया जाता है? पूँजी ढाँचे की प्रभावोत्पादकता का मापन आप किस प्रकार करेंगे?

अथवा

एक कम्पनी की पूँजी संरचना से आप क्या समझते हैं? एक कम्पनी के पूँजी विन्यास में किन-किन बातों को ध्यान में रखना चाहिये?

अथवा

एक निगम के पूँजी ढाँचे से आप क्या समझते हैं? एक उत्तम पूँजी ढाँचे में जो मौलिक गुण होने चाहिये उनका विवेचन कीजिये।

अथवा

'एक निगम की सफलता सुनियोजित पूँजी संरचना पर निर्भर करती है।' परीक्षण कीजिये।

अथवा

पूँजी ढाँचे से आप क्या समझते हैं? उन बातों की व्याख्या कीजिये जिनको किसी व्यवसाय के पूँजी ढाँचे की रचना करते समय ध्यान में रखना चाहिये।

अथवा

एक निगम के पूँजी ढाँचे से आपका क्या तात्पर्य है? एक उत्तम पूँजी संगठन में जो मौलिक गुण होने चाहिये उनका विवेचन कीजिये।

अथवा

पूँजी संरचना से क्या तात्पर्य है? पूँजी संरचना को निर्धारित करने वाले तत्वों की विवेचना कीजिये।

उत्तर– पूँजी संरचना का आशय– पूँजी ढाँचे (संरचना) का अभिप्राय पूँजी के दीर्घकालीन साधनों के पारस्परिक अनुपात से है, और इसमें स्वामी पूँजी, अधिमान्य या पूर्वाधिकार अंश पूँजी तथा दीर्घकालीन ऋण पूँजी सम्मिलित की जाती है। इसका आशय यह ज्ञात करना होता है, कि व्यवसाय की दीर्घकालीन पूँजी किन-किन साधनों के द्वारा और किस-किस अनुपात में प्राप्त की गयी है? गेस्टनबर्ग के शब्दों में, ''पूँजी संरचना का आशय पूँजी के स्वरूप या प्रकार को निश्चित करने से हैता है।'' वैस्टन एवं ब्राइम के अनुसार, 'पूँजी सरचना किसी फर्म का स्थायी वित्त प्रबन्धन होता है, जो दीर्घकालीन ऋणों, पूर्वाधिकारी अंशों तथा शुद्ध मूल्य से प्रदर्शित होता है।'

इस प्रकार पूँजी संरचना का निर्धारण वित्तीय आयोजन की दूसरी श्रेणी है। इसका सीधा-साधा अर्थ पूँजीकरण में विभिन्न प्रतिभूतियों के पारस्परिक अनुपात को निर्धारित करना है।

अनुकूलतम अथवा उत्तम पूँजी ढाँचे (संरचना) के गुण– चूँकि व्यवसाय स्वामियों के हितों में वृद्धि के लिये संचालित किया जाता है। अतः पूँजी ढाँचा इस प्रकार का होना चाहिये जिससे कम्पनी के अंशधारियों को अधिकतम आय प्राप्त हो सके। यह तभी सम्भव हो सकेगा,जबकि पूँजी के विभिन्न साधनों की औसत लागत न्यूनतम हो।

आदर्श पूँजी सरचना का आशय अनुकूलतम प्रतिभूति मिश्रण से होता है, जिससे कम्पनी न्यूनतम पूँजी की लागत पर अपने अंशों का मूल्य अधिकतम करने में सक्षम होती है। विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों के मध्य ऐसा सन्तुलन स्थापित किया जाता है, कि संस्था के स्वामियों

अर्थात् समता अंशधारियों को अधिकतम प्रत्याय प्राप्त हो जाये एवं उनकी प्रतिभूतियों का मूल्य अधिक हो सके। लेकिन सभी संस्थायें इस उद्देश्य में सफल नहीं हो पाती हैं, क्योंकि पूँजी संरचना हेतु ऐसा कोई सर्वमान्य मापदण्ड नहीं है, जो सभी संस्थाओं के लिये प्रत्येक समय अनुकूल हो। फिर भी संस्था अपनी पूँजी संरचना को परिस्थितियों के अनुरूप उपयुक्त बनाने का प्रयास करती है। अतः पूँजी संरचना इस प्रकार होनी चाहिये जिससे कम्पनी के अंशधारियों को अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। यह भी सम्भव हो सकेगा जबकि पूँजी के विभिन्न साधनों की औसत लागत न्यूनतम हो।

एक अनुकूलतम वित्तीय ढाँचे (संरचना) में निम्नलिखित गुण होने चाहिये अथवा एक कम्पनी के पूँजी विन्यास मे निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिये-

1. निर्गमन की न्यूनतम लागत- कम्पनी संगठन में पूँजी की व्यवस्था हेतु अंश, ऋण-पत्र आदि प्रतिभूतियों का निर्गमन किया जाता है, जिनकी छपाई, विज्ञापन, अभिगोपन दलाली आदि पर व्यय होता है। यह व्यय न्यूनतम होना चाहिये अन्यथा संस्था में जल पूँजी उत्पन्न हो जायेगी।

2. आकर्षक नियम- पूँजी संरचना इस प्रकार व्यवस्थित की जानी चाहिये कि प्रतिभूति धारकों को उपलब्ध विभिन्न अधिकार जैसे- मतदान, हस्तान्तरण, शोधन प्रत्याय आदि अधिक से अधिक आकर्षक हो जिससे कि विनियोक्ताओं में कम्पनी के प्रति रूचि जागृत हो सके।

3. कानूनी मान्यताओं के अनुरूप- यदि व्यवसाय सम्बन्धी किसी अधिनियम के अन्तर्गत पूँजी संरचना के सम्बन्ध में कोई नियम बनाये गये हैं तो प्रवर्तकों अथवा संचालकों को पूँजी संरचना के समय उन नियमों को ध्यान में रखा जाना चाहिये, जिससे नियमों का उल्लंघन न हो। जैसे-भारत में पूँजी निर्गमन नियन्त्रक द्वारा कम्पनी में एक निश्चित ऋण समता अनुपात पर जोर दिया जाता है। अतः विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियाँ इस प्रकार निर्गमित की जानी चाहिये कि यह अनुपात बना रहे।

4. सरलता- प्रबन्ध की सुविधा को ध्यान में रखते हुये वित्तीय ढाँचे को सरल रूप दिया जाना जाहिये। प्रारम्भ से ही यदि योजना जटिल होगी, तो भविष्य में अतिरिक्त पूँजी की व्यवस्था सरलता से नहीं की जा सकेगी। अतः आरम्भ में केवल सामान्य अंशों और यदि आवश्यक हो तो उनके साथ-साथ अधिमान्य अंशों का निर्गमन उचित होगा। ऋणपत्रों या बन्धपत्रों के निर्गमन को आगे आवश्यकतानुसार सुरक्षित रखा जाना उचित हो सकता है।

5. लोचपूर्णता- वित्तीय योजना एक तत्कालीन व्यवस्था न होकर एक दीर्घकालीन व्यवस्था है। अतः कम्पनी के सीमानियमों के उद्देश्य खण्ड में उल्लेखित विभिन्न उद्देश्यों को ध्यान में रखकर ही उसे अन्तिम रूप दिया जाना चाहिये। तत्कालीन आवश्यकताओं की लोचपूर्णता का अभिप्राय यहाँ दीर्घकाल में बढ़ती अथवा घटती हुयी आवश्यकताओं के अनुरूप पूँजी ढाँचे में समायोजन से है।

6. पूर्ण उपयोगिता- पूँजी की मात्रा एवं वित्तीय आवश्यताओं में पूर्ण सामंजस्य होने पर ही पूँजी का अधिकतम उपयोग सम्भव हो सकता है। पूँजी के जलयुक्त हो जाने पर ही इसकी उपयोगिता कम हो जाती है। अतः पूर्ण उपयोगिता के लिये उचित पूँजीकरण अनिवार्य है।

7. तरलता- स्थिर सम्पत्तियों एवं तरल सम्पत्तियों मे क्या अनुपात रखा जाये यह प्रत्येक व्यवसाय की परिस्थिति, प्रकृति एव आकार आदि कई परिवर्तनशील तत्वों पर निर्भर होता है। आवश्यकता से अधिक तरलता शोधन क्षमता में वृद्धि करके जोखिम को कम करती है, किन्तु साथ ही इससे लाभदायकता में कमी हो जायेगी। इसके विपरीत आवश्यकता से कम तरलता

शोधन क्षमता को कम करके जोखिम को बढ़ा देती है, किन्तु साथ ही यह लाभदायकता में वृद्धि कर सकती है। अतः तरल साधनों में कोषों के विनियोग को उचित सीमा में बनाये रखना आवश्यक होता है।

8. न्यूनतम लागत- पूँजी उपलब्धि के विभिन्न साधनों की लागत समान नहीं होती है- कुछ साधनों से पूँजी प्राप्त करने में लागत अधिक एवं अन्य साधनों से पूँजी प्राप्त करने में लागत कम आती है। अतः पूँजी मिश्रण ऐसा होना चाहिये, जिसे प्राप्त करने और व्यवसाय में प्रयोग में लाने की लागत न्यूनतम हो।

9. अधिकतम लाभ- किसी कम्पनी के लिये सर्वोत्तम या आदर्श पूँजी ढाँचा वह होगा, जिसके आधार पर कम्पनी की लाभदायकता में अधिकतम वृद्धि होती है। पूँजी ढाँचे में ऋण पूँजी का अनुपात ऐसा होना चाहिये, कि जिसके आधार पर अंशधारियों को अधिकतम प्रति अंश लाभ प्रदान किया जा सके।

10. न्यूनतम जोखिम- कम्पनी का पूँजी ढाँचा इस प्रकार का होना चाहिये कि जिससे इन जोखिमों के बोझ को सहजता से सहन किया जा सके। विशेष रूप से व्यावसायिक एवं वित्तीय जोखिम से बचाव के लिये पूँजी ढाँचे में समुचित व्यवस्था की जानी चाहिये।

11. अधिकतम नियन्त्रण- कम्पनी का नियन्त्रण साधारण अंशधारियों के हाथों में रहता है, क्योंकि मतदान का अधिकार इनको ही प्राप्त होता है।

पूँजी संरचना की प्रभावोत्पादकता का मापन अथवा पूँजी संरचना का निर्धारण अथवा पूँजी संरचना के निर्धारक तत्व अथवा कारक- कम्पनी की भावी प्रगति बहुत कुछ पूँजी ढाँचे के उत्तम निर्धारण पर निर्भर करती है। अतः इसके निर्माण के समय उन तत्वों पर भली प्रकार विचार करना आवश्यक हो जाता है, जिनका इन पर प्रभाव पड़ता है। वित्तीय आयोजकों के मस्तिष्क में अनेक अपेक्षायें हो सकती हैं, जिनकी पूर्ती के लिये वे पूँजी ढाँचे को निश्चित स्वरूप प्रदान करते हैं। प्रबन्धकों की अपेक्षाओं एवं मान्यताओं के अतिरिक्त अनेक ऐसे बाहरी कारण हो सकते हैं, जो पूँजी ढाँचे के स्वरूप को प्रभावित करते हैं। पूँजी ढाँचे को प्रभावित करने वाले तत्व (कारक) निम्नलिखित है-

(1) आन्तरिक तत्व, (2) बाह्य तत्व।

1. आन्तरिक तत्व- आन्तरिक तत्व इस प्रकार हैं-

(1) आय- सभी कम्पनियों की आय की सम्भावनाओं में समानता नहीं होती। कुछ व्यवसायों में आय की सम्भावनायें सुस्पष्ट होती है, जबकि कुछ अन्य व्यवसायों में आय की सम्भावनायें अनिश्चित एवं अनियमित होती हैं। आय की प्रकृति की सम्भावनाओं के अनुरूप ही पूँजी ढाँचे का निर्माण किया जाना चाहिये। आय की प्रकृति को देखते हुये ए. एस.डेविंग ने इस बारे में तीन मार्गदर्शक सिद्धान्त बताये हैं जो निम्नलिखित हैं-

1. ऋणपत्र अथवा बॉण्ड केवल उसी दशा में निर्गमित किये जाने चाहिये जबकि यह विश्वास हो कि कम्पनी की आय पर्याप्त मात्रा में नियमित रूप से होती रहेगी।
2. अधिमान्य अंश उस दशा में निर्गमित किये जा सकते है, जिसमें से अधिमान्य अंशों पर लाभांश चुकाने के बाद भी पर्याप्त राशि बच सकेगी।
3. यदि यह सम्भावना हो कि कम्पनी की आय भविष्य में अनिश्चित होगी तो ऐसी दशा में केवल साधारण अंशों का निर्गमन किया जाना चाहिये।

(2) नियन्त्रण- प्रायः कम्पनी का ढाँचा इस प्रकार से निर्मित किया जाता है, जिससे कम्पनी का नियन्त्रण व्यक्तियों के एक समूह विशेष के हाथों में केन्द्रित हो जाये। निकट

भविष्य में भी अतिरिक्त पूँजी की आवश्यकताओं की पूर्ति इस प्रकार की जाती है, कि नियन्त्रण समूह विशेष के हाथों में ही बना रहे।

(3) जोखिम– ब्याज के नियमित भुगतान एवं समय-समय पर मूल के पुनर्भुगतान की बढ़ती हुई बाध्यता कम्पनी की शोध्य क्षमता के लिये खतरा अथवा जोखिम उत्पन्न कर सकती है। अतः कम्पनी की ऋण क्षमता सही आकलन करने के बाद ही जोखिम का पूर्वानुमान करके पूँजी ढाँचे में पूँजी के अन्य साधनों के साथ-साथ ऋण पूँजी का अनुपात निर्धारित किया जाना चाहिये।

(4) पूँजी की लागत– पूँजी ढाँचे के निर्माण में पूँजी की लागत पर विचार करना बहुत आवश्यक है। पूँजी के सभी साधनों की लागत समान नहीं होती है। कुछ साधन अपेक्षाकृत सस्ते होते हैं, तो कुछ साधन मंहगे। अतः पूँजी ढाँचे का निर्माण करते समय पूँजी के सस्ते एवं मंहगे साधनों का ऐसा मिश्रण अपनाया जाता है, जिससे कि कुल पूँजी की औसत लागत एक निश्चित काट बिन्दु से अधिक न बढ़े।

(5) व्यवसाय की प्रकृति– किसी नवीन प्रवर्तित उपक्रम में पूँजी के स्वरूप को निर्धारित करने पर व्यवसाय की प्रकृति का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। कुछ व्यवसाय ऐसे होते हैं जिनमें उत्पादन एवं विक्रय वर्षपर्यन्त होता रहता है। अतः पूँजी ढाँचा इस प्रकार होना चाहिये कि मौसम के अनुसार पूँजी में आवश्यक समायोजन किया जा सके। पूँजी के दीर्घकालीन साधनों की बजाय अल्पकालीन साधनों को अधिक महत्व दिया जाना चाहिये।

(6) परिसम्पत्तियों का ढाँचा– सभी प्रकार की परिस्थितियों का ढाँचा एक समान नहीं होता है। कुछ कम्पनियों में स्थिर सम्पत्तियों का अनुपात अधिक होता है, तो कतिपय अन्य प्रकार की कम्पनियों में चल सम्पत्तियों का अनुपात अधिक होता है। वैसे भी एक सामान्य नियम यह है, कि पूँजी के उपयोगों एवं पूँजी के साधनों में उचित तालमेल रखा जाना चाहिये। अतः दीर्घकालीन एवं स्थिर सम्पत्तियों का वित्तपोषण पूँजी के दीर्घकालीन साधनों के द्वारा ही होना चाहिये।

(7) लोच– प्रारम्भ में पूँजी ढाँचे का स्वरूप सरल होना चाहिये, ताकि भविष्य में जैसे-जैसे पूँजी की आवश्यकता पड़ती जाये, नवीन पूँजी के समायोजन के लिये रास्ता खुला रहे। इसके अतिरिक्त आन्तरिक साधनों से पर्याप्त पूँजी संचित करने में सक्षम होने में कम्पनी के कुछ बाहरी साधनों का प्रत्यावर्तन करना सम्भव हो सके।

(8) प्रबन्धकों की वित्तीय नीतियाँ– न्यूनतम विनियोग पर अधिकतम नियन्त्रण प्राप्त कर लेने के उद्देश्य की पूर्ति के लिये जिस वित्तीय नीति का सहारा लिया जाता है, उसे ट्रेडिंग ऑन इक्विटी कहते हैं। इस नीति को अपनाकर इक्विटी अंशधारियों को अधिक लाभ पहुँचाना है, तो पूँजी ढाँचे में उच्च पूँजी गियरिंग का समावेश करना आवश्यक होना।

(9) प्रबन्धकीय दृष्टिकोण– पूँजी संरचना पर प्रबन्धकीय दृष्टिकोण का गहरा प्रभाव पड़ता है। प्रायः प्रबन्ध तन्त्र यह प्रयास करता है, कि न्यूनतम विनियोग द्वारा अधिक से अधिक सम्पत्तियों पर नियन्त्रण स्थापित हो जाये। अतः पूँजी संरचना में स्वामी पूँजी एवं ऋण पूँजी के मध्य तदनुसार अनुपात निर्धारित किया जाता है।

(10) समता पर व्यापार– जब कम्पनी सीमित मात्रा में स्वामी पूँजी की व्यवस्था कर शेष वित्तीय आवश्यकतायें ऋण पूँजी से पूरी करती है, तो इसे समता पर व्यापार कहते हैं। इस प्रकार उपलब्ध कुल पूँजी की सहायता से अर्जित लाभ ऋण पर देय ब्याज से कहीं अधिक होता है। फलतः स्वामी पूँजी पर प्रत्याय दर अधिक हो जाती है। यदि कम्पनी ने इस प्रकार की

वित्तीय नीति अपना ली है तो उसकी पूँजी संरचना में स्वामी पूँजी की अपेक्षा ऋण पूँजी का भाग अधिक होगा।

(11) संचालन अनुपात– संचालन अनुपात का पूँजी संरचना से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। यदि कम्पनी में संचालन अनुपात अधिक है तो ब्याज एवं लाभांश के लिये अल्प आय शेष रहती है। ऐसी संस्था में ऋण पूँजी की अपेक्षा समता पूँजी अधिक होती है। यदि संचालन अनुपात कम है, अर्थात् कम्पनी के पास ब्याज एवं लाभांश के लिये पर्याप्त आय शेष रहती है तो ऐसी संस्था में ऋण पूँजी भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान रहती है।

(12) दन्तिकरण अनुपात– कम्पनी की पूँजी संरचना करते समय पूँजी एवं बाह्य दीर्घकालीन पूँजी के मध्य उचित समन्वय निर्धारित किया जाता है क्योंकि यदि यह दन्ति अनुपात निम्न है, तो कम्पनी के समता अंशों में सट्टेबाजी की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं, और अंशों के मूल्यों में अधिक उच्चावचन होने लगते हैं।

(13) भावी योजनायें– पूँजी संरचना का निर्धारण करते समय संस्था की विस्तार योजनाओं को ध्यान में रखा जाता है, ताकि आवश्यकतानुसार पूँजी की सुगमता से व्यवस्था हो सके। अन्यथा विस्तार योजनाओं का क्रियान्वयन अवरूद्ध होगा और व्यावसायिक सुअवसर भी हाथ से निकल जायेगा।

2. बाह्य तत्व– इसके अन्तर्गत निम्नलिखित तत्व आते हैं–

(1) पूँजी बाजार की दशायें– मन्दी की दशाओं में जब लाभांश दरें कम होती हैं, और आय की सम्भावनायें अनिश्चित होती हैं। उस समय साधारण अंशों की अपेक्षा पूर्वाधिकार अंश तथा ऋण, पत्र अधिक लोकप्रिय होते हैं। यह परिस्थिति इन्हीं के निर्गमन के अनुकूल होती है। इसके विपरीत तेजीकाल में लाभ की सम्भावनायें स्पष्ट होने के कारण साधारण अंशों की माँग अधिक रहती है। अतः उस समय प्रबन्धकों को चाहिये, कि साधारण अंशों का ही निर्गमन करें।

(2) विनियोजकों का मनोविज्ञान– विनियोजक विभिन्न रूचियों तथा विभिन्न आर्थिक स्तर के होते हैं, अतएव निर्गमित की जाने वाली प्रतिभूतियाँ सबकी रूचियों एवं आर्थिक दशा के अनुरूप होना चाहिये। इसीलिये अनेक कम्पनियाँ विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों का निर्गमन करती हैं, ताकि विभिन्न प्रकृति के व्यक्ति एक या अधिक प्रकार की प्रतिभूतियों में पूँजी का विनियोग कर सकें। पूँजी निर्गमन की सफलता विभिन्न निवेशकों की मनोवैज्ञानिक दशा पर निर्भर होती है।

(3) पूँजी निगर्मन के व्यय– पूँजी निर्गमन प्रतिभूतियों के विक्रय के रूप में होता है, जो आधुनिक युग में स्वयं एक विशिष्ट कार्य बन गया है। इस कार्य के लिये दलालों एवं मध्यस्थों तथा अभिगोपकों को कमीशन देना होता है। पूँजी के निर्गमन के व्यय पूँजी के विभिन्न साधनों के लिये न्यूनाधिक हो सकते हैं। अतः निर्गमन व्यय कम्पनी के लिये पूँजी की लागतों को बढ़ा देते हैं।

(4) प्रचलित नियम एवं सन्नियम– यदि कम्पनी की आय पर ऊँची दर से कर लगता है तो वह बजाय अंशों के निर्गमित करने के ऋण-पत्र निर्गमित करना अधिक पसन्द करेगी। इसका कारण यह है, कि ऋणपत्रों पर देय ब्याज कम्पनी की कर योग्य आय की गणना करने के लिये स्वीकृत कटौती होती है, जबकि लाभांश नहीं। सम्भावित अधिनियमों का भी पूँजी के भावी स्वरूप पर प्रभाव पड़ता है।

(5) वित्तीय संस्थाओं की नीतियाँ– वित्तीय संस्थाओं द्वारा अपनायी जाने वाली वित्तीय नीतियों का पूँजी संरचना पर प्रभाव पड़ता है। यदि वित्तीय संस्थायें ऋण प्रदान करने में उदार

नीति अपनाती है, तो कम्पनियों को कम मात्रा में अंश पूँजी निर्गमित करनी चाहिये और शेष आवश्यकता की पूर्ति इन संस्थाओं से ऋण लेकर करनी चाहिये। इसके विपरीत यदि वित्तीय संस्थायें कठोर ऋण नीति अपनाती हैं, तो कम्पनियों को अंश-पूँजी के निर्गमन द्वारा पूँजी की व्यवस्था करनी चाहिये।

(6) **पूँजी निर्गमन की लागत–** पूँजी निर्गमन की लागत में छपाई एवं स्टेशनरी, अभिगोपन, दलाली, बट्टा आदि व्यय होते हैं। कम्पनी की पूँजी संरचना पर इनका पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। प्रायः उन्हीं प्रतिभूतियों को निर्गमित किया जाता है, जिनकी निर्गमन लागत कम से कम हो, क्योंकि इस सन्दर्भ में फिजूलखर्ची की गयी जो जलयुक्त पूँजी की सम्भावना उत्पन्न हो जायेगी।

प्रश्न–2. वित्तीय लीवरेज किसे कहते हैं? क्या सभी प्रकार की कम्पनियाँ अपने पूँजी ढाँचे में ऊँचा वित्तीय लीवरेज रख सकने की क्षमता रखती हैं? कारणों सहित स्पष्ट कीजिये।

अथवा

'लीवरेज एक ऐसे उपकरण के समान है, जो दुतरफा काट करता है। एक ओर यह जोखिम में वृद्धि करता है, तो दूसरी ओर विनियोजित पूँजी पर प्रत्याय की दर में भी वृद्धि करने का अवसर प्रदान करता है।' इस कथन की विवेचनात्मक सीमाक्षा कीजिये।

उत्तर– वित्तीय लीवरेज अथवा दन्तिकरण का अर्थ एवं **परिभाषा–** वित्तीय प्रबन्ध के विद्वान दन्तिकरण तथा समता पर व्यापार की नीति को प्रायः एक ही अर्थ में प्रयोग करते हैं। वित्तीय दन्तिकरण फर्म में प्रयुक्त ऐसी पूँजी को सम्बोधित करता है, जिस पर फर्म स्थिर दर से प्रत्याय देती है। इस प्रकार वित्तीय दन्तिकरण का तात्पर्य कुल सम्पत्ति में कुल ऋण के अनुपात से है। वित्तीय दन्तिकरण की विभिन्न विद्वानों ने निम्नलिखित परिभाषायें दी हैं –

1. प्रो. सोलोमन इजरा के अनुसार– "वित्तीय दन्तिकरण साधारण अंशधारियों को मिलने वाली प्रत्याय दर के कुल पूँजीकरण की प्रत्याय दर के साथ अनुपात को कहते हैं।"

2. जे. ई.वाल्टर के शब्दों में– "वित्तीय दन्तिकरण साधारण अंशधारियों को मिलने वाले प्रत्याय प्रतिशत तथा कुल पूँजीकरण की प्रत्याय प्रतिशत के पारस्परिक अनुपात को कहते हैं।"

3. नये वित्तीय कार्याधिकारी वित्तीय लीवरेज अथवा दन्तिकरण की परिभाषा निम्न प्रकार करते हैं– "ऋण लेने से पूर्व सामान्य अंशधारियों की शुद्ध प्रत्याय दर और ऋण लेने के बाद उनकी शुद्ध प्रत्याय दर में परस्पर अनुपात को वित्तीय दन्तिकरण कहते हैं।"

इस प्रकार पूँजी मिलान अनुपात आधारभूत अनुपात का पूरक अनुपात है, जो कुल पूँजीकरण के प्रति रुपये उपार्जन को साधारण अंशों के प्रति रुपये उपार्जन से सम्बन्ध रखता है। यदि कम्पनी को यह विश्वास हो कि ऋण पूँजी के द्वारा इतना लाभ कमाया जा सकता है, कि वह ऋणपत्रों पर देय ब्याज की राशि से अधिक होगा तो ऐसी कम्पनी निश्चिन्त होकर उधार ली गयी पूँजी के सहारे व्यापार कर सकती है परन्तु आखिर कम्पनी किस सीमा तक उधार ले सकती है। यदि कम्पनी इतना अधिक उधार ले लेती है, कि जिससे ऋणों पर देय ब्याज की राशि उपार्जित आय के बराबर हो जाती है, तो सामान्य अंशों पर देय लाभांश दर शून्य होगी, क्योंकि ऐसी दशा में शुद्ध लाभ होगा ही नहीं, और इस सीमा से अधिक का अर्थ होगा आर्थिक घाटा।

जब किसी व्यापार का संचालन स्वामी पूँजी की अपेक्षा अधिक अनुपात में ऋण पूँजी के आधार पर किया जाता है तो इस क्रिया को ट्रेडिंग ऑन इक्विटी कहते हैं। कई कम्पनियों के संस्थापक वित्तीय ढाँचे का गठन इस प्रकार से करते हैं, कि उसमें सामान्य अंश पूँजी का अनुपात कुल पूँजीकरण की तुलना में बहुत कम होता है। इस प्रकार की न्यूनतम पूँजी विनियोग के माध्यम से वे अधिकतम वित्तीय साधनों पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेते हैं। ऋणगत

उधार ली गयी पूँजी के द्वारा व्यवसाय का संचालन करके निजी पूँजी पर लाभ की मात्रा बढ़ाने में सफल हो जाते हैं। यह नीति प्रमुख रूप से तीन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अपनायी जाती है–

1. न्यूनतम स्वामी पूँजी के सहारे यथा सम्भव अधिक ऋण लेकर अधिक वित्तीय साधनों पर नियन्त्रण प्राप्त करना।
2. साधारण अंश पूँजी पर लाभांश की दर में वृद्धि के लिये।
3. स्वयं तथा अपने मित्रों के एक छोटे समूह के हाथों में मतदान शक्ति को केन्द्रित रखने के लिये, ताकि व्यवसाय का सामान्य नियन्त्रण उनके हाथों में रहे।

वैसे उधार लेकर ऋणों के सहारे व्यापार या व्यवसाय चलाना व्यापार के लिये साधारण सी बात है। एकाकी व्यापारी, साझेदारी एवं कम्पनी संगठन तीनों में ही निजी पूँजी के साथ-साथ ऋणों के सहारे ही व्यापार संचालित किया जाता है, किन्तु स्वयं थोड़ी सी पूँजी का निवेश करके पूँजीकरण का शेष भाग दीर्घकालीन ऋणों द्वारा पूरा किया जाने का उद्देश्य साधारण अंश पूँजी पर लाभाश दर में वृद्धि करना हो तो इस नीति को ट्रेडिंग ऑन इक्विटी अथवा वित्तीय लीवरेज ही कहा जायेगा। वित्तीय लीवरेज अथवा ट्रेडिंग ऑन इक्विटी, इन दोनों विचारों में कोई अन्तर नहीं है। यह अवश्य कहा जा सकता है कि, वित्तीय लीवरेज का सिद्धान्त, ट्रेडिंग ऑन इक्विटी के सिद्धान्त की ही परिष्कृत व्याख्या करता है।

ट्रेडिंग ऑन इक्विटी की परिसीमायें– कुल पूँजीकरण पर उपार्जित औसत लाभ की मात्रा ऋणों पर देय ब्याज की मात्रा से जितनी ही अधिक होगी, सामान्य अंशों पर लाभांश की दर उतनी ही अधिक दी जा सकेगी। अतः ट्रेडिंग ऑन इक्विटी की नीति का पालन करते समय निम्नलिखित परिसीमाओं पर विचार करना होगा–

1. उधार ऋण लेने के लिये कम्पनी के सीमा नियमों एवं अन्तर्नियमों द्वारा निर्धारित सीमायें।
2. ऋणों पर देय ब्याज की दर में प्रत्येक अनुवर्ती ऋण के साथ वृद्धि होती जाती है। इसका कारण एक ऋण के पश्चात् दूसरे ऋण के लिये जोखिम की मात्रा में वृद्धि हो जाना है। पूर्व ऋणदाताओं का कम्पनी की सम्पत्ति पर अग्रिम गृहणाधिकार होता है। कम्पनी को बाद में लिये हुये ऋण महंगे पड़ते हैं, और उधार लेने की नीति की सीमा निर्धारित करते हैं।
3. ऋणों पर देय कुल ब्याज की राशि यदि ब्याज एवं कर चुकाने से पूर्व आय के बराबर हो जाये, तो फिर कर सहित लाभ शून्य होगा और यदि ब्याज एवं कर चुकाने के पूर्व आय शून्य है, तो जो हानि व्यवसाय को होगी वह देय ब्याज की राशि के बराबर होगी। ऐसी स्थिति में ट्रेडिंग ऑन इक्विटी का लाभ समाप्त हो जायेगा।
4. ऐसे व्यवसायों में जहाँ आय नियमित एवं निरन्तर रूप से होती रहती है, सामान्य अंशों पर व्यापार की नीति सफल रहती है। इसेक विपरीत अनिश्चित एवं अनियमित आय वाले व्यवसायों के लिये यह नीति उपयुक्त नहीं है।
5. उचित सीमा के पश्चात् उधार के बल पर व्यवसाय को संचालित करना असम्भव हो जाता है क्योंकि निश्चित ब्याज दर के कारण व्ययों का बोझ इतना बढ़ जाता है कि कालान्तर में व्यवसाय अति पूँजीकरण का शिकार हो जाता है। संस्था की अधिक ऋण प्राप्त करने की क्षमता कम हो जाती है, और सामान्य अंशों पर लाभांश दर कम हो जाने के कारण उनका बाजार मूल्य भी गिरने लगता है।
6. अधिक ऋणों के साथ-साथ ऋणदाताओं का प्रभाव एवं हस्तक्षेप बढ़ जाता है, और व्यवसाय को भविष्य में अतिरिक्त पूँजी की आवश्यकता होने पर कठिनाई होती है।

अतिरिक्त पूँजी जुटाने की प्रत्येक योजना के लिये ऋणदाताओं का अनुमोदन लेना होता है।

वित्तीय लीवरेज का सूत्र– $FL = \frac{EBIT}{EBIT-INT} = \frac{EBT}{PBT}$

Where, FL = Financial Leverage,
EBIT = Earnings Before Interest & Taxes,
INT = Interest,
PBT = Profits Before Tax

इस सूत्र की गणना से यह ज्ञात किया जा सकता है, कि लिये गये किसी ऋण की मात्रा ने साधारण अंशधारियों को मिलने वाले प्रति अंश प्रत्याय में वृद्धि की है। अथवा कमी। यदि इसमें वृद्धि होती है, तब तो ठीक अन्यथा ऋण लेना अंशधारियों के हितों में नहीं होगा। इस प्रकार प्रभाव की दृष्टि से वित्तीय दन्तिकरण धनात्मक अथवा ऋणात्मक हो सकता है। धनात्मक अथवा अनुकूल दन्तिकरण तब माना जाता है, जबकि EBIT की दर ऋण पर देय ब्याज की दर से अधिक होती है। यदि EBIT की दर ऋण पूँजी की लागत की अपेक्षा कम हो तो दन्तिकरण ऋणात्मक अथवा प्रतिकूल माना जाता है। ऐसा प्रतिकूल दन्तिकरण हानिकारक होता है, क्योंकि यह सामान्य अंशधारियों की आय में पहले से भी कमी कर देता है, और उनके मूल्य को भी गिरा देता है।

वित्तीय दन्तिकरण का प्रभाव– फर्म में पूँजी संरचना में वित्तीय दन्तिकरण का समावेश ब्याज तथा कर देने से पूर्व की आय (EBIT) में होने वाले परिवर्तनों को विस्तृत कर देता है। वित्तीय मामलों से सम्बन्धित उपयोगी निर्णय लेने में इस तकनीक का व्यापक प्रयोग किया जाता है। वित्तदायी निर्णय के साथ-साथ विनियोग सम्बन्धी निर्णयों में यह बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। इसकी सहायता से फर्म के लिये पूँजी संरचना का सर्वोत्तम प्रतिरूप आसानी से निर्धारित किया जा सकता है। फर्म की सम्भावय आय के सन्दर्भ में कुल पूँजीकरण से विभिन्न प्रतिभूतियों का क्या अनुपात हो, जिससे पूँजी का औसत लागत कम से कम हो जाये यह वित्तीय दन्तिकरण की तकनीक द्वारा ज्ञात किया जा सकता है।

विनियोग सम्बन्धी निर्णयों में भी यह तकनीक बहुत ही उपयोगी है। किसी व्यापार का विस्तार किस सीमा तक होना चाहिये? इस सम्बन्ध में दन्तिकरण की तटस्थ नीति मार्गदर्शक का काम करती है। वित्तीय दन्तिकरण तकनीक के उपयोग से वित्तीय प्रबन्धक अपने अंशधारियों को अधिकतम लाभांश दे सकता है। कारण स्पष्ट है, पूँजी संरचना में स्थिर पूँजी लागत की मात्रा बढ़ने से पूँजी की औसत लागत में कमी। जब प्रति अंश उपार्जन दर व लाभांश की दर बढ़ती है, तो उन अंशों का बाजार मूल्य भी बढ़ जाता है, और अन्ततोगत्वा उनके विनियोग से दीर्घकालीन लक्ष्य की पूर्ति हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वित्तीय दन्तिकरण एक फर्म की पूँजी संरचना निश्चित करने में, अंशधारियों को लाभांश अधिक देने में, फर्म की औसत पूँजी लागत में कमी लाने का एक महत्वपूर्ण उपकरण के समान है, जो दुतरफा काट करता है, एक ओर तो यह जोखिम में वृद्धि करता है, तो दूसरी ओर विनियोजित पूँजी पर प्रत्याय की दर में भी वृद्धि करने का अवसर प्रदान करता है।

जब तक विक्रय से प्राप्त होने वाली आय का स्तर ऊँचा रहता है, ऊँचा लीवरेज स्वामी पूँजी पर अनुपात से अधिक लाभ प्रदान करने में सफल होता है, किन्तु विक्रय आय में गिरावट होने पर स्वामी पूँजी पर लाभ के प्रतिशत में अनुपात से अधिक कमी भी कर देता है। इस प्रकार थोड़ी सी प्रतिकूलता लाभों में अनुपात से अधिक कमी उत्पन्न कर सकती है। अतः यह कहना उचित होगा कि ऊँचे लीवरेज के आधार पर व्यवसाय संचालन के लिये ऊँचे स्तर

की दक्षता एवं सतर्कता की अपेक्षा होती है। केवल तब ही ऊँचे लीवरेज के साथ व्यवसाय का संचालन सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

लीवरेज अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता की उस सीमा को व्यक्त करता है, जिसके कारण विक्रय की मात्रा अथवा ऋण पूँजी में की गयी थोड़ी से वृद्धि अथवा कमी से कम्पनी के लाभों में अनुपात से अधिक वृद्धि अथवा कमी उत्पन्न होती है। ऊँची स्थिर लागतों अथवा ऋण पूँजी के प्रयोग के कारण उत्पन्न जोखिम की सीमा का आकलन करने के अभिप्राय से लीवरेज की विचारधारा का उपयोग किया जाता है। कुल लागतों के अनुपात में ऊँची स्थिर लागतों अथवा कुल पूँजी के अनुपात में अपेक्षाकृत अधिक ऋण पूँजी का व्यवसाय में उपयोग व्यवसायिक जोखिम अथवा वित्तीय जोखिम की मात्रा में वृद्धि कर देता है। क्योंकि इसके कारण स्थिर लागतों बोझ में बढ़ोत्तरी होती है, किन्तु एक उत्तम लाभ उपार्जित करने वाली कम्पनी की दशा में ऊँचा लीवरेज विनियोजित पूँजी पर प्रत्याय में वृद्धि करने का अवसर भी प्रदान करता है।

ऐसे व्यवसाय, जिनमें आय नियमित रूप से होती है, किन्तु निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि कितनी होगी। यदि ट्रेडिंग ऑन इक्विटी की नीति अपनाते हैं तो उत्तम आय वाले वर्ष में सामान्य वर्ष की अपेक्षा लाभांश की दर अधिक बढ़ जायेगी, और कम आय वाले वर्ष में यह दर सामान्य वर्ष की अपेक्षा और अधिक कम हो जायेगी। इसीलिये प्रायः कहा जाता है कि ट्रेडिंग ऑन इक्विटी की नीति न केवल लाभ में वृद्धि करती है, बल्कि हानि में भी वृद्धि कर देती है। किसी भी कम्पनी का वित्तीय लीवरेज न्यून अथवा उच्च रखा जाये, इस विषय में किये गये निर्णय महत्वपूर्ण होते हैं, क्योंकि कम्पनियों की आय में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं, जिनका प्रभाव इक्विटी अंशधारियों को प्राप्त होने वाली आय पर पड़े बिना नहीं रहता है। जिस प्रकार एक इन्जिन की गति बढ़ने के साथ गियर बदलना आवश्यक होता है, उसी प्रकार व्यवसाय की प्रगति तथा आय में वृद्धि के साथ-साथ पूँजीकरण में उच्च दन्तिकरण का सहारा लिया जा सकता है, और ऐसा करके स्वामी पूँजी पर लाभ की दर में वृद्धि की जा सकती है।

प्रश्न–3. परिचालन लीवरेज की अवधारणा की व्याख्या कीजिये। परिचालन लीवरेज की सीमा को आप किस प्रकार ज्ञात करेंगे?

अथवा

परिचालन लीवरेज को समझाइये। परिचालन लीवरेज की सीमा को किस प्रकार ज्ञात करते हैं? स्पष्ट कीजिये।

उत्तर– किसी फर्म की कुल लागतों की तुलना में उसकी स्थिर लागतों का अनुपात ऊंचा है तो यह कहा जायेगा कि वह ऊँचे परिचालन लीवरेज के आधार पर व्यवसाय का संचालन कर रहा है। कुल लागतों की तुलना में अपेक्षाकृत ऊँची स्थिर लागतों का उपयोग फर्म के विक्रय की मात्रा में होने वाली वृद्धि या कमी के कारण उसके लाभों में अनुपात से अधिक वृद्धि अथवा कमी उत्पन्न कर देता है।

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जब परिचालन लीवरेज ऊँचा है तो विक्रय स्तर में थोड़ा सा अनुकूल या प्रतिकूल परिवर्तन परिचालन लाभों अथवा ब्याज एवं करों से पूर्व आय में अनुपात से अधिक अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिवर्तन ला देगा। ऐसी स्थिति में विक्रय से प्राप्त होने वाली आय जब तक ऊँचे स्तर पर बनी रहती है, ऊँचे परिचालन लीवरेज के आधार पर व्यवसाय करने वाले फर्म की स्थिति अन्य ऐसे फर्म की तुलना में अधिक अच्छी बनी रहती है, जिसका परिचालन लीवरेज नीचा है, लेकिन जैसे ही विक्रय से प्राप्त होने वाली आय के स्तर में कमी होती है तो जोखिम अथवा प्रतिकूलता की मात्रा दूसरे फर्म की तुलना में पहले फर्म के लिये अनुपात से अधिक बढ़ जाती है।

व्यावसायिक फर्मों के सामने यह विकल्प होता है कि वे ऊँची स्थिर लागतों के आधार पर या ऊँची परिवर्तनशील लागतों के आधार पर अपने व्यवसाय का संचालन करे। जहाँ तक पहले विकल्प का प्रश्न है, उसमें निहित जोखिम की मात्रा अधिक है। हालांकि इसमें लाभदायकता की संभावनायें भी अधिक है। दूसरी ओर, यदि विक्रय आय में कमी होती है तो प्रथम विकल्प के अन्तर्गत स्थिर लागतों में अतिशीघ्र कमी करना सम्भव नहीं होता है और परिणामस्वरूप परिचालन लाभों में अनुपात से अधिक कमी हो जाती है। इस प्रकार प्रथम विकल्प में लाभदायकता की उत्तम सम्भावनाओं के साथ जोखिम की ऊँची मात्रा भी संलग्न होती है। जहाँ तक दूसरे विकल्प का सम्बन्ध है, उसमें जोखिम की मात्रा वैसे तो कम है लेकिन साथ ही ऐसे विकल्प में लाभ में वृद्धि की सम्भावनायें भी सीमित होती हैं।

परिचालन लीवरेज की सीमा– विक्रय में एक निर्धारित परिवर्तन के कारण परिचालन लाभ पर पड़ने वाले प्रभाव को परिचालन लीवरेज की सीमा के आधार पर मापा जा सकता है। इसे निम्न प्रकार से ज्ञात किया जाता है।

$$\text{Degree of Operating leverage} = \frac{\text{\% Change inoperating Profit}}{\text{\% Change in Sales}}$$

इसका आशय यह हुआ कि परिचालन लीवरेज विक्रय में होने वाली प्रतिशत वृद्धि या कमी के कारण परिचालन लाभों में होने वाली प्रतिशत वृद्धि या कमी की सीमा को नापता है। इसे हम निम्न उदाहरण के द्वारा व्यक्त कर सकते हैं–

A, B और C तीन कम्पनियाँ है। तीनों की उत्पादन क्षमता 50,000 इकाईयों की है। तीनों कम्पनियों में विक्रय मूल्य 10 रुपये प्रति इकाई तथा परिवर्तनशील लागतें (Variable Costs) 4 रुपये प्रति इकाई है। स्थिर लागतें (Fixed Costs) A कम्पनी में 1,00,000 रुपये, B कम्पनी में 2,00,000 रुपये तथा C कम्पनी में 2,50,000 रुपये है।

यह मानते हुये कि समस्त उत्पादन का विक्रय बाजार में हो जाता है, तीनों कम्पनियों के परिचालन–लीवरेज की गणना कीजिये।

OPERATING LEVERAGE

Particulars	A	B	C
Output (in units)	50,000	50,000	50,000
Sales @ Rs. 10 Per unit	5,00,000	5,00,000	5,00,000
Less : Variable Costs (Rs. 4 per units)	2,00,000	2,00,000	2,00,000
Contribution (C)	3,00,000	3,00,000	3,00,000
Less : Fixed Costs	1,00,000	1,00,000	1,00,000
Operating Profits (OP)	2,00,000	1,00,000	50,000
	3,00,000	3,00,000	3,00,000
	2,00,000	1,00,000	50,000
$DOL = \frac{C}{OP}$	1.5	3	6
	150%	300%	600%

इसका अर्थ यह हुआ कि विक्रय मात्रा में 10% की वृद्धि या कमी के कारण A कम्पनी में 15%, B कम्पनी में 30% तथा C कम्पनी में 60% की वृद्धि या कमी परिचालन लाभों (op) में हो जायेगी। इसे निम्नलिखित समीकरण के द्वारा ज्ञात किया जा सकता है–

$$DOL = \frac{N(P-VC)}{N(P-VC)-FC} \text{ or } \frac{c}{OP}$$

Where, DOL = Degree of Operating Leverage

N = Number of Units Sold
P = Price per Units
VC = Variable Cost per Unit
FC = Fixed Costs
C = Contribution
OP = Operating Profits

Accordingly DOL in the three Companies will be computed as follows;

DEGREE OF OPERATING LEVERAGE

Company A 50,000 (10 – 4)	Company B 50,000 (10 – 4)	Company C 50,000 (10 –4)
50,000(10–4) – 1,00,000	50,000(10–4)–2,00,000	50,000(10–4)–2.50,000
$= \frac{3,00,000}{2,00,000}$	$= \frac{3,00,000}{1,00,000}$	$= \frac{3,00,000}{50,000}$
= 1.5	= 3	= 6
or	or	or
150%	300 %	600%

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि विक्रय आय में होने वाली प्रतिशत वृद्धि या कमी के कारण परिचालन–लाभ में परिचालन लीवरेज की सीमा के अनुपात में वृद्धि या कमी हो जाती है।

प्रश्न–4. संयुक्त लीवरेज से क्या तात्पर्य है? संयुक्त लीवरेज की सीमा को उदाहरण के द्वारा किस प्रकार ज्ञात किया जाता है?

अथवा

संयुक्त लीवरेज को उदाहरण के द्वारा समझाइये।

उत्तर– ऊँचा परिचालन–लीवरेज व्यावसायिक जोखिम का परिचायक है, क्योंकि इससे फर्म की विनियोजित पूँजी पर लाभ की दर में अनुपात से अधिक वृद्धि या कमी होती है। ऊँचा वित्तीय लीवरेज वित्तीय जोखिम का परिचायक है, क्योंकि इसके कारण भी लाभों में अनुपात से अधिक वृद्धि या कमी हो जाती है। यदि इस प्रकार दोनों ही लीवरेज ऊँचे हो तो उनका संयुक्त प्रभाव बहुत अधिक बढ़ जाता है। संयुक्त लीवरेज को निम्न प्रकार से ज्ञात किया जा सकता है–

$$DCL = \frac{(S-VC)}{(S-VC)} \times \frac{(S-VC)-FC}{(S-VC-FC-INT)}$$

$$= \frac{C}{EBIT} \times \frac{EBIT}{PBT}$$

$$= \frac{C}{PBT}$$

Where,
DCL = Degree of Combined Leverage
S = Sales
VC = Variable Costs
FC = Fixed Costs
INT = Interest on Debt Capital
C = Contribution
EBIT = Earnings Before Interest & Taxes
PBT = Profit Before tax

वैकल्पिक रूप में संयुक्त लीवरेज की गणना परिचालन लीवरेज तथा वित्तीय लीवरेज को गुणा करके ज्ञात की जा सकती है।

$$DCL = OL \times FL$$

Where
DCL = Degree of Combined Leverage
OL = Operating Leverage
FL = Financial Leverage

उदाहरण– समर्थ एण्ड कम्पनी लिमिटेड का वर्ष 2023 का लाभदायकता विवरण निम्न प्रकार है–

Particulars	Rupees
Sales	4,80,000
Variable Costs	2,80,000
Contri bution	2,00,000
Fixed Costs	1,20,000
Operating profit (EBIT)	80,000
Interest	30,000
Profits Before tax (PBT)	50,000

उपर्युक्त विवरण के आधार पर (i) परिचालन लीवरेज की सीमा, (ii) वित्तीय लीवरेज की सीमा तथा, (iii) संयुक्त लीवरेज की सीमा ज्ञात कीजिये।

हल–

(I) $DOL = \frac{\text{Contribution}}{\text{EBIT}} = \frac{2,00,000}{80,000}$

$= 2.5$

(II) $DFL = \frac{\text{EBIT}}{\text{PBT}} = \frac{80,000}{50,000}$

$= 1.6$

(III) $DCL = \frac{\text{Contribution}}{\text{EBIT}} \times \frac{\text{EBIT}}{\text{PBT}}$

$= \frac{2,00,000}{80,000} \times \frac{80,000}{50,000}$

$= 2.5 \times 1.6$

$= 4$

संयुक्त लीवरेज के प्रभाव– अनिश्चितता तथा जोखिम की सीमा का विश्लेषण सदैव परिचालन अनुपात तथा वित्तीय लीवरेज के सामूहिक प्रभाव के आधार पर आकलित किया जाता है। मान लिया जाये कि यदि किसी कम्पनी का परिचालन लीवरेज चार है और उसका वित्तीय लीवरेज भी चार है, तो उसका संयुक्त लीवरेज 16 होगा एवं उसकी अनुकूलता या प्रतिकूलता की सीमा 16 गुनी अर्थात् 1,600 प्रतिशत होगी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ऐसी कम्पनी की स्थिति बहुत अधिक जोखिमपूर्ण होगी। ऐसी कम्पनी में विक्रय और परिचालन लाभ में एक निश्चित मात्रा में वृद्धि उसके कर सहित लाभों में 16 गुना वृद्धि कर देगी, लेकिन दूसरी ओर उनमें एक निश्चित मात्रा में कमी उसके कर सहित लाभों में 16 गुना कमी कर देगी।

दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अच्छे समय एवं वर्षों में ऐसी कम्पनी बाजार की दृष्टि में आ जाती है, क्योंकि उसके लाभ एवं लाभांशों की अधिकता के कारण उसके अंशों के

बाजार मूल्यों में अप्रत्याशित वृद्धि हो जायेगी तथा दूसरी ओर यदि बुरे दिन आते हैं तो लाभ की मात्रा इतनी कम होगी कि ऋण-पूँजी का भार वहन करना उसके क्षमता के बाहर होगा। ऐसी स्थिति बने रहने पर घाटे के कारण ऐसी कम्पनी अपनी स्वामी पूँजी को ही खाने लगेगी तथा उसके अंश बाजार में बट्टे पर बिकने लगेंगे या फिर उनका कोई भी खरीददार नहीं मिलेगा।

यदि किसी कम्पनी में परिचालन लीवरेज एवं वित्तीय लीवरेज दोनों ही कम है तो उसके जोखिम की सीमा बहुत ही कम होगी जो इस बात की परिचायक होगी कि कम्पनी संभल-संभल कर कदम रखेगी। ऐसी कम्पनी विनियोग के अच्छे समय का लाभ उठाने से वंचित रह जायेगी, क्योंकि विकास विस्तार तथा विविधीकरण के लिये समय पर आवश्यक कोषों की व्यवस्था करना उसके लिये कठिन होगा और यदि ऊँचा परिचालन अनुपात है लेकिन वित्तीय लीवरेज कम है तो प्रथम की प्रतिकूलता को द्वितीय की अनुकूलता कुछ सीमा तक कम करने में सहायक होगी। इस प्रकार सबसे अच्छी स्थिति उस समय होगी, जब किसी कम्पनी का परिचालन लीवरेज कम है लेकिन उसका वित्तीय लीवरेज ऊँचा है, क्योंकि इसमें प्रथम की सुरक्षा परिधि के कारण कम्पनी ऊँचे ऋण-पूँजी अनुपात पर व्यवसाय का संचालन करते हुये अधिकतम लाभों का उपार्जन कर सकने में सफल होगी। इसलिये प्रबन्धकों के लिये यह देखना आवश्यक है कि दोनों प्रकार के लीवरेजों का आपसी अनुपात किस प्रकार का है।

प्रश्न–5. पूँजी दन्तिकरण की परिभाषा दीजिये। उच्च दन्तिकरण तथा निम्न दन्तिकरण का वित्तीय स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ता है?

अथवा

पूँजी दन्तिकरण से क्या आशय है? इसकी गणना किस प्रकार की जाती है?

अथवा

पूँजी दन्तिकरण की तकनीक एवं महत्व पर प्रकाश डालिये।

उत्तर– पूँजी संरचना में शामिल विभिन्न स्रोतों के बीच आनुपातिक सम्बन्ध पूँजी दन्तिकरण कहलाता है। इसमें विभिन्न स्रोतों से प्राप्त की जाने वाली पूँजी का उचित अनुपात स्थापित किया जाता है। यह समता अंश पूँजी एवं स्थायी लागत वाली पूँजी के मध्य सम्बन्ध व्यक्त करता है।

जे.वैटी के अनुसार, "समता अंशों के अधिमान अंश पूँजी तथा ऋण पूँजी के सम्बन्ध को पूँजी दन्तिकरण कहा जाता है।"

ब्राउन एवं हावर्ड के अनुसार, "पूँजी दन्तिकरण शब्द का प्रयोग किसी कम्पनी की साधारण अंश पूँजी एवं स्थिर ब्याज वाली प्रतिभूतियों के मध्य अनुपात को प्रदर्शित करने के लिये किया जाता है।"

पूँजी दन्तिकरण के प्रकार– पूँजी दन्तिकरण निम्न दो प्रकार का होता है–

(1) उच्च दन्तिकरण– जब पूँजी संरचना में स्थायी ब्याज तथा स्थायी लाभांश वाली पूँजी समता अंश पूँजी से अधिक होती है तो यह स्थिति उच्च दन्तिकरण कहलाती है। **जैसे– एक्स** कम्पनी के कुल पूँजीकरण की राशि 8,00,000 रु. है। इसमें समता अंश पूँजी 2,00,000 रु., अधिमान अंश पूँजी 3,00,000 रु. एवं 3,00,000 रु. के ऋणपत्र शामिल हैं। यहाँ उच्च दन्तिकरण की स्थिति है।

(2) निम्न दन्तिकरण– जब पूँजी संरचना में समता अंश पूँजी स्थायी ब्याज एवं स्थायी लाभांश वाली पूँजी से अधिक होती है तो इसे निम्न दन्तिकरण कहते हैं। **जैसे वाई कम्पनी की** कुल पूँजीकरण की राशि 10,00,000 रु. है। इसमें समता अंश पूँजी 6,00,000 रु.,

अधिमान अंश पूँजी 1,00,000 रु. एवं ऋणपत्र 3,00,000 रु. के शामिल हैं। यह स्थिति निम्न दन्तिकरण की है।

दन्ति अनुपात की गणना– पूँजी दन्ति अनुपात की गणना के लिये स्वामी पूँजी में ऋण पूँजी (अधिमान अंश पूँजी+ऋणपत्र आदि) का भाग दिया जाता है।

इसकी गणना निम्न सूत्र की सहायता से की जा सकती है–

$$\text{Capital Gearing Ratio} = \frac{\text{Owners Equity}}{\text{preference capital + Interest Bearing finance}}$$

$$\text{पूँजी दन्ति अनुपात} = \frac{\text{स्वामी पूँजी}}{\text{अधिमान अंशपूँजी + स्थायी ब्याज वाला वित्त}}$$

स्वामी पूँजी अर्थात् समता पूँजी पर लाभांश की दर अस्थिर एवं अनिश्चित होती है इसलिये इसे कुछ विद्वान अस्थिर लागत वाली पूँजी के नाम से सम्बोधित करते हैं और उक्त सूत्र को निम्न प्रकार से लिखते हैं–

$$\text{Capital Gearing Ratio} = \frac{\text{Variable Cost bearing Capital}}{\text{Fixed cost bearing capital}}$$

$$\text{पूँजी दन्ति अनुपात} = \frac{\text{अस्थिर लागत वाली पूँजी}}{\text{स्थिर लागत वाली पूँजी}}$$

उदाहरण– एक कम्पनी का कुल पूँजीकरण 9,00,000 रु. है और उसके पास निम्न विकल्प हैं–

विकल्प (Alternatives)

	I Rs.	II Rs.	III Rs.	IV Rs.
Equity share capital	3,00,000	4,00,000	6,00,000	9,00,000
6 Bef. share capital	1,50,000	3,50,000	3,00,000	–
10% Debentures	4,50,000	1,50,000	–	–
	900,000	9,00,000	9,00,000	9,00,000

ब्याज एवं कर पूर्व कम्पनी की आय 1,60,000 रुपये है तथा कर की दर 50% है। कोई लाभ प्रतिधारित नहीं किये जाते हैं। आप से पूँजी दन्तिकरण अनुपात एवं समता पूँजी पर प्रत्याय दर पर पड़ने वाले प्रभाव की गणना की अपेक्षा की जाती है।

हल– (a) पूँजी दन्ति अनुपात की गणना–

$$\text{Capital Gearing Ratio} = \frac{\text{Owners Capital}}{\text{Fixed Cost bearing Capital}}$$

Particulars	Alternatives			
	I Rs.	II Rs.	III Rs.	IV Rs.
Owners Equity	3,00,000	4,00,000	6,00,000	9,00,000
Fixed cost bearing Capital	6,00,000	5,00,000	3,00,000	Zero
Gearing Ratio	.50	.80	2.00	∞

(b) Calculation of Equity Capital Earning Rate

Paritculars	Alternatives			
	I Rs.	II Rs.	III Rs.	IV Rs.
DEBIT	1,60,000	1,60,000	1,60,000	1,60,000
Less: Debenture Interest	45,000	15,000	–	–
Earning before Tax	1,15,000	1,45,000	1,60,000	1,60,000
Less: Income Tax @ 50%	57,500	72,500	80,000	80,000
Earnings after Tax	57,500	72,500	80,000	80,000
Less: Preference Share Dividend	9,000	21,000	18,000	–
Earnings available for Equity Shareholders	48,500	51,500	62,000	80,000
Equity Share Capital	3,00,000	4,00,000	6,00,000	9,00,000
Equity Capital Earning Rate	$\frac{48,500\times100}{3,00,000}$ = 16.17%	$\frac{51,500\times100}{4,00,000}$ = 12.80%	$\frac{52,000\times100}{6,00,000}$ = 10.33%	$\frac{80,000\times100}{1,00,000}$ = 8.89%

$$\text{Normal Rate of Return} = \frac{\text{Earning after tax}}{\text{Total capitalisation}} \times 100$$

(On the basis of IV alternative)

$$\frac{80,000}{9,00,000} \times 100 = 8.89\%$$

टिप्पणी– (i) जैसे–जैसे स्थायी लागत वाली पूँजी की मात्रा कम हो रही है, वैसे–वैसे दन्ति अनुपात ऊंचा होता जा रहा है। प्रथम एवं द्वितीय विकल्प में उच्च दन्तिकरण है जबकि तृतीय विकल्प में निम्न दन्तिकरण है तथा चतुर्थ विकल्प में दन्तिकरण शून्य है।

(ii) दन्ति अनुपात में वृद्धि के साथ–साथ समता पूँजी की प्रत्याय दर में कमी हो रही है। कम्पनी प्रथम तीन विकल्पों में धनात्मक समता पर व्यापार की स्थिति में है, क्योंकि समता पूँजी प्रत्याय दर सामान्य प्रत्याय दर से अधिक है। चतुर्थ विकल्प में शून्य समता पर व्यापार है, क्योंकि सामान्य प्रत्याय दर एवं समता पूँजी प्रत्याय दर दोनों समान हैं।

पूँजी दन्तिकरण की तकनीक– व्यावसायिक संस्था में दन्तिकरण का प्रयोग एक मोटर के 'गियर' की तरह किया जाना चाहिये। जिस प्रकार एक मोटर को चालू करने एवं प्रारम्भिक गति देने के लिये गियर का प्रयोग किया जाता है और उसकी गति बढ़ने के साथ–साथ उसे उच्च गियर में लाते हैं, ठीक इसी प्रकार व्यवसाय की स्थापना एवं कार्य शुरू करने के प्रारम्भिक चरण में निम्न दन्तिकरण का प्रयोग करना चाहिये अर्थात् स्थायी लागत पूँजी की अपेक्षा समता अंश पूँजी का अधिक विनियोग करना चाहिये और जैसे–जैसे व्यवसाय प्रगति के मार्ग पर बढ़ने लगे, आय नियमित एवं निश्चित हो जाये या बढ़ने लगे, वैसे–वैसे उच्च दन्तिकरण की नीति का अनुसरण करते जाना चाहिये अर्थात् कुल पूँजीकरण में स्थायी लागत वाली पूँजी की भागीदारी धीरे–धीरे बढ़ा देनी चाहिये। पूँजी दन्तिकरण की दृष्टि से व्यवसाय में प्रयुक्त पूँजी अग्रलिखित तीन प्रकार की हो सकती है–

(1) अस्थिर लागत पूँजी– ऐसी पूँजी जिस पर लाभांश दर अनिश्चित एवं अस्थिर होती है, को अस्थिर लागत पूँजी कहा जाता है। समता अंश पूँजी इसी वर्ग मे आती है, क्योंकि इन पर लाभांश सबसे अन्त में आय शेष बचने तथा संचालकों की लाभांश नीति पर आधारित होता है।

(2) स्थिर लागत पूँजी– ऐसी पूँजी जिस पर ब्याज या लाभांश दर निश्चित होती है, को स्थिर लागत पूँजी कहते हैं। इसके अन्तर्गत अधिमान अंश पूँजी, ऋणपत्र, बन्ध-पत्र एवं दीर्घकालीन ऋण आते हैं।

(3) शून्य लागत पूँजी– ऐसी सभी राशियाँ जिनको संस्था द्वारा व्यवसाय में पयोग करने के लिये किसी बाह्य संस्था को कोई प्रतिफल नहीं चुकाना होता है, को शून्य लागत पूँजी कहते हैं। इसके अन्तर्गत संचिति एवं कोष, अदत्त व्यय आदि आते हैं।

पूँजी दन्तिकरण का महत्व– पूँजी दन्तिकरण संस्था की सम्यक पूँजी-संरचना में सहायक होता है। वित्तीय प्रबन्धक को दन्तिकरण की सम्पूर्ण जानकारी विभिन्न स्रोतों से प्राप्त संसाधनों के सदुपयोग का मार्ग प्रशस्त करती हैं। एक दूरदर्शी प्रबन्धक संस्था में पूँजीकरण के समय जोखिम पूँजी एवं ऋण पूँजी के मध्य उचित अनुपात निर्धारित करता है जिससे समता पूँजी पर प्रत्याय बढ़ाया जा सके।

दन्तिकरण की सहायता से संस्था का पूँजी ढाँचा इस प्रकार सन्तुलित किया जाता है कि संस्था व्यापार चक्रों के कुप्रभावों से बची रहे तथा कम्पनी की प्रतिभूतियों में सट्टेबाजी कम से कम हो सके। प्रसार काल में संस्था की आय में वृद्धि होने के कारण उच्च दन्तिकरण की नीति के अन्तर्गत समता अंशधारियों की लाभांश दर को बढ़ाया जा सकता है और मंदी काल में आय कम होने पर निम्न दन्तिकरण की नीति के अन्तर्गत समता अंशों पर प्रत्याय दर में सम्भावित कमी को नियंत्रित किया जा सके।

लघुउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–(1) एक अनुकूलतम वित्तीय संरचना के गुण बताइये।

उत्तर– एक अनुकूलतम वित्तीय ढाँचे (संरचना) में निम्नलिखित गुण होने चाहिये अथवा एक कम्पनी के पूँजी विन्यास में निम्न बातों का ध्यान रखना चाहिये–

1. **निर्गमन की न्यूनतम लागत**– कम्पनी संगठन में पूँजी की व्यवस्था हेतु अंश, ऋण-पत्र आदि प्रतिभूतियों का निर्गमन किया जाता है, जिनकी छपाई, विज्ञापन, अभिगोपन दलाली आदि पर व्यय होता है। यह व्यय न्यूनतम होना चाहिये अन्यथा संस्था में जल पूँजी उत्पन्न हो जायेगी।

2. **आकर्षक नियम**– पूँजी संरचना इस प्रकार व्यवस्थित की जानी चाहिये कि प्रतिभूति धारकों को उपलब्ध विभिन्न अधिकार जैसे– मतदान, हस्तान्तरण, शोधन प्रत्याय आदि अधिक से अधिक आकर्षक हो जिससे कि विनियोक्ताओं में कम्पनी के प्रति रूचि जागृत हो सके।

3. **कानूनी मान्यताओं के अनुरूप**– यदि व्यवसाय सम्बन्धी किसी अधिनियम के अन्तर्गत पूँजी संरचना के सम्बन्ध में कोई नियम बनाये गये हैं तो प्रवर्तकों अथवा संचालकों को पूँजी संरचना के समय उन नियमों को ध्यान में रखा जाना चाहिये, जिससे नियमों का उल्लंघन न हो। जैसे-भारत में पूँजी निर्गमन नियन्त्रक द्वारा कम्पनी में एक निश्चित ऋण समता अनुपात पर जोर दिया जाता है। अतः विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियाँ इस प्रकार निर्गमित की जानी चाहिये कि यह अनुपात बना रहे।

4. **सरलता**– प्रबन्ध की सुविधा को ध्यान में रखते हुये वित्तीय ढाँचे को सरल रूप दिया जाना चाहिये। प्रारम्भ से ही यदि योजना जटिल होगी, तो भविष्य में अतिरिक्त पूँजी की व्यवस्था सरलता से नहीं की जा सकेगी। अतः आरम्भ में केवल सामान्य अंशों और यदि आवश्यक हो तो उनके साथ-साथ अधिमान्य अंशों का निर्गमन उचित होगा। ऋणपत्रों या बन्धपत्रों के निर्गमन को आगे आवश्यकतानुसार सुरक्षित रखा जाना उचित हो सकता है।

5. **पूर्ण उपयोगिता**– पूँजी की मात्रा एवं वित्तीय आवश्यताओं में पूर्ण सामंजस्य होने पर ही पूँजी का अधिकतम उपयोग सम्भव हो सकता है। पूँजी के जलयुक्त हो जाने पर ही इसकी उपयोगिता कम हो जाती है। अतः पूर्ण उपयोगिता के लिये उचित पूँजीकरण अनिवार्य है।

प्रश्न–(2) वित्तीय लीवरेज से क्या आशय है? इसकी परिभाषायें दीजिये।

उत्तर– वित्तीय प्रबन्ध के विद्वान दन्तिकरण तथा समता पर व्यापार की नीति को प्रायः एक ही अर्थ में प्रयोग करते हैं। वित्तीय दन्तिकरण फर्म में प्रयुक्त ऐसी पूँजी को सम्बोधित करता है, जिस पर फर्म स्थिर दर से प्रत्याय देती है। इस प्रकार वित्तीय दन्तिकरण का तात्पर्य कुल सम्पत्ति में कुल ऋण के अनुपात से है। वित्तीय दन्तिकरण की विभिन्न विद्वानों ने निम्नलिखित परिभाषायें दी हैं –

1. **प्रो. सोलोमन इजरा** के अनुसार– "वित्तीय दन्तिकरण साधारण अंशधारियों को मिलने वाली प्रत्याय दर के कुल पूँजीकरण की प्रत्याय दर के साथ अनुपात को कहते हैं।"
2. **जे. ई.वाल्टर के शब्दों में**– "वित्तीय दन्तिकरण साधारण अंशधारियों को मिलने वाले प्रत्याय प्रतिशत तथा कुल पूँजीकरण की प्रत्याय प्रतिशत के पारस्परिक अनुपात को कहते हैं।"

प्रश्न–(3) पूँजी दंतिकरण से क्या आशय है? इसके प्रकार बताइये।

उत्तर– पूँजी संरचना में शामिल विभिन्न स्रोतों के बीच आनुपातिक सम्बन्ध पूँजी दन्तिकरण कहलाता है। इसमें विभिन्न स्रोतों से प्राप्त की जाने वाली पूँजी का उचित अनुपात स्थापित किया जाता है। यह समता अंश पूँजी एवं स्थायी लागत वाली पूँजी के मध्य सम्बन्ध व्यक्त करता है।

जे.वैटी के अनुसार, "समता अंशों के अधिमान अंश पूँजी तथा ऋण पूँजी के सम्बन्ध को पूँजी दन्तिकरण कहा जाता है।"

ब्राउन एवं हावर्ड के अनुसार, "पूँजी दन्तिकरण शब्द का प्रयोग किसी कम्पनी की साधारण अंश पूँजी एवं स्थिर ब्याज वाली प्रतिभूतियों के मध्य अनुपात को प्रदर्शित करने के लिये किया जाता है।"

पूँजी दन्तिकरण के प्रकार– पूँजी दन्तिकरण निम्न दो प्रकार का होता है–

(1) उच्च दन्तिकरण (2) निम्न दन्तिकरण

प्रश्न–(4) पूँजी दंतिकरण की तकनीक बताइये।

उत्तर– व्यावसायिक संस्था में दन्तिकरण का प्रयोग एक मोटर के 'गियर' की तरह किया जाना चाहिये। जिस प्रकार एक मोटर को चालू करने एवं प्रारम्भिक गति देने के लिये गियर का प्रयोग किया जाता है और उसकी गति बढ़ने के साथ-साथ उसे उच्च गियर में लाते हैं, ठीक इसी प्रकार व्यवसाय की स्थापना एवं कार्य शुरू करने के प्रारम्भिक चरण में निम्न दन्तिकरण का प्रयोग करना चाहिये अर्थात् स्थायी लागत पूँजी की अपेक्षा समता अंश पूँजी का अधिक विनियोग करना चाहिये और जैसे-जैसे व्यवसाय प्रगति के मार्ग पर बढ़ने लगे, आय नियमित एवं निश्चित हो जाये या बढ़ने लगे, वैसे-वैसे उच्च दन्तिकरण की नीति का

अनुसरण करते जाना चाहिये अर्थात् कुल पूँजीकरण में स्थायी लागत वाली पूँजी की भागीदारी धीरे-धीरे बढ़ा देनी चाहिये।

पूँजी दन्तिकरण की दृष्टि से व्यवसाय में प्रयुक्त पूँजी निम्नलिखित तीन प्रकार की हो सकती है- (1) अस्थिर लागत पूँजी (2) स्थिर लागत पूँजी (3) शून्य लागत पूँजी।

इकाई-3

प्रश्न-1. पूँजी खर्च के सम्बन्ध में किस प्रकार निर्णय लिये जाते हैं? पूँजी खर्च योजना की लाभदायकता की मापन विधियाँ बताइये।

अथवा

पूँजी व्यय बजट क्या है? इसकी आवश्यकता व महत्व की जाँच कीजिये।

अथवा

पूँजी खर्च बजट से क्या आशय है? पूँजी बजट का महत्व बताइये।

अथवा

विभिन्न प्रकार की पूँजी व्यय परियोजनाओं का वर्णन कीजिये। पूँजी बजटिंग प्रक्रिया को समझाइये।

उत्तर- पूँजी बजटन से हमारा आशय एक क्रमबद्ध विनियोग कार्यक्रम की अभिकल्पना करने से है। पूँजी बजटन की कुछ प्रमुख परिभाषायें निम्नलिखित हैं-

1. चार्ल्स हार्नग्रीन के अनुसार- "पूँजी बजटन प्रस्तावित पूँजी व्ययों के करने और अर्थप्रबन्धन का दीर्घकालीन नियोजन है।"
2. आर.एम. लिच के अनुसार- "पूँजी बजटन में संस्था की दीर्घकालीन लाभप्रदत्ता को अधिकतम करने के उद्देश्य से उपलब्ध पूँजी का नियोजन सम्मिलित है।"
3. रिचर्ड्स एवं ग्रीन लॉ के अनुसार-"पूँजी बजटन सामान्यतः दीर्घकालीन प्रत्यायों वाले पड़तों के प्राप्त करने की ओर निर्देश करता है।"

उपरोक्त परिभाषाओं के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पूँजी बजटन उपक्रम के वित्तीय संसाधनों अर्थात् पूँजी के दीर्घकालीन नियोजन से सम्बन्धित एक प्रक्रिया है।

पूँजी बजटन की आवश्यकता या पूँजी बजटन क्यों आवश्यक है- पूँजी सम्पत्तियों में विनियोग एक बहुत ही महत्वपूर्ण कठिन समस्या है। बजटन स्वयं में एक आवश्यक यन्त्र है, परन्तु पूँजी सम्पत्तियों के बजटन की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से और भी अधिक हो सकती है-

(1) **धन का स्थायी विनियोग-** पूँजी परियोजनाओं में विनियोग किया गया धन एक प्रकार से स्थायी रूप से ही विनियोजित हो जाता है। क्योंकि इन परियोजनाओं में से धन की वापसी एक कार्य है और बिना हानि के धन की वापसी तो असम्भव ही है। अतः पूँजी परियोजनाओं में धन का विनियोग करने से पूर्व पूँजी बजटन कर लेना चाहिये।

(2) **विशाल पैमाने पर विनियोग-** पूँजी परियोजनाओं में विनियोग किया गया धन एक प्रकार से स्थायी रूप से ही विनियोजित हो जाता है, क्योंकि इन परियोजनाओं में से धन की वापसी एक कठिन कार्य है और विनियोजित धनराशि की विशालता के कारण परियोजनाओं में धन विनियोग करने से पूर्व पूँजी बजटन कर लेना चाहिये।

(3) **दीर्घकालीन प्रभाव-** पूँजी परियोजनायें व्यवसाय के आगामी कई वर्षों की अर्जनों को प्रभावित करती हैं; जैसे- श्रम के स्थान पर मशीन को प्रतिस्थापित करने से व्यवसाय की स्थिर लागतें बढ़ जाती हैं।

(4) **विनियोग निर्णयों की बाधायें-** दीर्घकालीन विनियोग निर्णयों की कठिनाइयाँ अल्पकालीन विनियोग निर्णयों से अधिक विस्तृत एवं अधिक जटिल होती हैं, क्योंकि एक तो इन निर्णयों का प्रभाव आगामी कई वर्षों तक रहता है और दूसरे इनकी शुद्धता का भी तुरन्त सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। इन परियोजनाओं का प्रभाव आगामी अनेक वर्षों में रहने के कारण इसमें अनिश्चितता व जोखिम भी अधिक रहती है।

उपरोक्त कारणों से वर्तमान व्यवसाय में कुशल पूँजी बजटन का आयोजन अति आवश्यक हो गया है। उद्योगों के फैलते आकार व उद्योगों के आधुनिकीकरण एवं मशीनीकरण से इसकी आवश्यकता और भी अधिक महसूस की जाने लगी है।

पूँजी बजटन का महत्व

1. **परियोजना में विशाल राशि का विनियोग-** वर्तमान समय में पूँजी बजटन का महत्व इसलिये भी अधिक है, कि जो पूँजी परियोजनायें तैयार की जाती हैं, उनमें विशाल धनराशि का विनियोग करना होता है, तथा, परियोजनाओं में धनराशि विनियोग करने के बाद उसकी वापसी एक कठिन कार्य है। इस कारण से पूँजी बजटन का एक व्यवसाय में काफी महत्व है।
2. **दीर्घकालीन प्रभाव-** पूँजी परियोजनाओं के हेतु लिये गये निर्णयों का प्रभाव आगामी अनेक वर्षों तक रहता है। इसलिये भी पूँजी बजटन का काफी महत्व है।
3. **उत्पादन सुगमताओं के संवर्द्धन की सम्भावनाओं का स्पष्टीकरण-** यह विक्रय बजट में दिखायी गई अतिरिक्त विक्रय राशि को पूरा करने के लिये उत्पादन सुगमताओं के संवर्द्धन की सम्भावनाओं को स्पष्ट करता है।
4. **तुलनात्मक स्थिति प्रकट करना-** यह नष्ट प्रायः या अप्रचलित सम्पत्तियों की पुनःसंस्थापना के लिये उपलब्ध विभिन्न वैकल्पिक सम्पत्तियों की तुलनात्मक स्थिति प्रकट करता है।
5. **आवश्यक अंक प्रदान करना-** यह रोकड़ बजट को पूरा करने के लिये आवश्यक अंक प्रदान करता है।
6. **ह्रास व सम्पत्तियों के पुनर्संस्थापन की सुदृढ़ नीति तैयार करना-** पूँजी बजटन ह्रास व सम्पत्तियों के पुनर्संस्थापना की सुदृढ़ नीति तैयार करने में सहायता प्रदान करता है।
7. **नियोजन एवं नीति निर्धारण में सहायक-** यह दीर्घकालीन नियोजन और नीति निर्धारण में सहायता प्रदान करता है। पूँजी बजटन सम्पत्तियों के क्रय का उचित समय बताता है।
8. **मशीनों के प्रयोग की वांछनीयता स्पष्ट करना-** यह मानव के स्थान पर मशीनों के प्रयोग की वांछनीयता पर प्रकाश डालता है एवं मशीनों के प्रयोग का महत्व स्पष्ट करता है।
9. **लागत घटाने के तरीकों पर विचार करने में सहायक-** यह लागत घटाने के तरीकों पर विचार करने में सहायक हो सकता है, लागत घटाने के लिये आधुनिकतम मशीनों के क्रय पर भी विचार किया जाता है।
10. **पूँजी लागत के अनुमान प्रस्तुत करना-** यह कार्य दशाओं या सुरक्षा सुविधाओं में सुधार की पूँजी लागत के अनुमान प्रस्तुत करता है व श्रम कल्याण योजनाओं के निर्माण में भी सहायक होता है।

पूँजी परियोजनाओं के प्रकार

(1) **सुस्थापित प्रचालन परियोजनायें**– प्रचलन में चल रहे या बाजार में किसी आधुनिक मशीन के ऑ खण्ड से नयी मशीन की स्थापना की आवश्यकता होती है। नयी मशीनों के प्रयोग से संचालन व्यय में कमी तथा उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होती है। पूर्व संस्थापन योजनाओं से उत्पादन की क्रियाओं में कोई भी परिवर्तन नहीं आता है। इन परियोजनाओं की वांछनीयता का निर्णय विनियोग से परिचालन लागतों में कमी के कारण होने वाली बचत तथा उत्पादन की अतिरिक्त मात्रा से प्राप्त लाभ के आधार पर किया जाता है। पूँजी बजटन या पूँजी व्यय निर्णय या पूँजी पर उपलब्धियों के लिये निदेशन।

(2) **सवर्द्धन योजनायें**– सवर्द्धन योजनाओं में नयी मशीन या इमारत का क्रय वर्तमान इमारतों में व मशीनों में विस्तार किसी अन्य व्यवसाय का विलीनीकरण एवं एक साथ बड़े पैमाने पर विज्ञापन शामिल है। इनका उद्देश्य उत्पादन क्षमता में वृद्धि या कभी कभी तीव्र प्रतियोगिता भी होता है। ऐसी परियोजना की वांछनीयता का निर्णय विनियोग की लागत और इससे उत्पादित वस्तुओं से प्राप्तशील लाभ के आधार पर किया जाता है।

(3) **उत्पाद या विधि में परिवर्तन**– इसमें वस्तु की किस्म में सुधार या विज्ञा खत लाकर या उत्पादन की विधियों में परिवर्तन करके अतिरिक्त आय कमाने या लागत कम करने की परियोजना सम्मिलित है। इसमें मानव की मशीनों से प्रतिस्थापित एवं स्वचालित मशीनों की स्थापना की जाती है।

(4) **परिवर्द्धन योजनायें**– परिवर्द्धन व योजनाओं में विभिन्न बाजारों में माल खपत बढ़ाने, नये बाजार प्राप्त करने या वस्तु की किस्म या स्वरूप में परिवर्द्धन करने से सम्बन्धित परियोजनायें सम्मिलित की जाती है। यह परियोजना भी सवर्द्धन परियोजनाओं का ही एक स्वरूप है, लेकिन इनमें विस्तार की गति सवर्द्धन परियोजनाओं की अपेक्षा धीमी होती है। इसमें परियोजना की लागत की तुलना लाभों से अनुमानित वृद्धि से की जाती है।

(5) **गृह व्यवस्था परियोजनायें**– इसमें वे परियोजनायें शामिल की जाती है जिनका उत्पादन पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है। इनमें वैधानिक आवश्यकता वाली परियोजनायें सम्मिलित दृष्टि से की जाती है।

(A) स्वास्थ्य एवं सुरक्षा परियोजना (B) सेवा विभाग परियोजनायें, (C) कल्याणकारी परियोजनायें, (D) शिक्षा परियोजनायें, (E) स्थिति परियोजनायें, (F) शोध और विकास परियोजनायें।

पूँजी बजटिंग प्रक्रिया– वित्तपेन द्वारा प्रतिपादित विचार के आधार पर पूँजी बजटिंग प्रक्रिया में निम्न को शामिल कर सकते है–

(1) परियोजना का विचार या सृजन– पूँजी खर्च प्रस्ताव या परियोजना दो प्रकार के होते है– (i) आय बढ़ाने वाले प्रस्ताव तथा (ii) लागत में कमी लाने वाले प्रस्ताव। प्रथम श्रेणी में, नये उत्पादन को लागू करना, वर्तमान क्षमता को बढ़ाना, नये व्यवसाय को चालू करना आदि से सम्बन्धित प्रस्तावों को शामिल करते है। दूसरी श्रेणी में, ऐसे प्रतिस्थापन प्रस्तावों को शामिल करते है ये सभी प्रस्ताव उच्च प्रबन्ध स्तर से संचालन स्तर तक के किसी परिवर्तन के लागत में बचत की सम्भावना होती है। ये सभी प्रस्ताव उच्च प्रबन्ध स्तर तक के किसी भी अधिकारी या कर्मचारी द्वारा सृजित किये जा सकते है। यह भी माना जाता है कि ऐसे प्रस्तावों की पर्याप्त संख्या सृजित हो ताकि फण्ड का पूर्ण व लाभ प्रयोग हो सके।

(2) परियोजना का मूल्यांकन– इसके अन्तर्गत (i) रोकड़ बहाव के रूप में लागत व लाभों का अनुमान तथा (ii) परियोजना की उपयुक्तता की जाँच के लिये उचित मापदण्ड का चुनाव

शामिल होता है। जहाँ तक लागत व लाभों के अनुमान का प्रश्न है, यह कहा जाता है कि यह कार्य योग्य व्यक्तियों के समूह को सौंप देना चाहिये, जो विश्वास हो और निहित स्वार्थ न रखते हों। परियोजना की लाभदायकता व उपयुक्तता की जाँच के लिये अनेक मापदण्ड उपलब्ध है। (जिनका वर्णन आगे किया गया है) सावधानी बरतनी होती कि चुना हुआ मापदण्ड ऐसा न हो कि सबसे लाभप्रद परियोजना का त्याग करके अन्य पूँजी खर्च प्रस्तावों के पक्ष में निर्णय दे दे।

(3) परियोजना का चुनाव– इसके अन्तर्गत परियोजनाओं की स्वीकृति व उनका चुनाव शामिल है। यद्यपि परियोजनाओं का अन्तिम अनुमोदन उच्च प्रबन्ध द्वारा ही किया जाता है, फिर भी विचाराधीन परियोजनाओं का प्रबन्ध के विभिन्न स्तर पर स्वीकृति किया जा सकता है। सामान्यत स्वीकृति व चुनाव के लिये कोई प्रबन्ध कार्यविधि निर्धारित नहीं की जा सकती है।

(4) परियोजना का क्रियान्वयन– जब परियोजनाओं का अन्तिम रूप से चुनाव कर लिया जाता है, तो उनके लिये फण्ड का वितरण होता है। फण्ड वितरण की इस औपचारिक योजना को पूँजी बजट कहते है। यह उच्च प्रबन्ध या अधिष्ठाता समिति का कर्तव्य व दायित्व है कि वह देखे कि पूँजी बजट में वितरण फण्ड के अनुसार ही वास्तविक खर्च किये जायें। ऐसे पूँजीगत खर्च पर नियन्त्रण बहुत ही आवश्यक होता है।

(5) देखभाल– पूर्ण हो चुकी परियोजनाओं के परिणामों की देखभाल के लिये एक पद्धति अवश्य अपनानी चाहिये। वास्तविक निष्पादन का बजटेड लक्ष्यों से तुलना करके पूर्वानुमान की प्रक्रिया को और अधिक अच्छा व सुदृढ़ बनाया जा सकता है।

पूँजी खर्च अनुमान या विवेचन– पूँजी खर्च के अनुमान का बजट, नीति निर्धारण, प्रबन्ध व बजटरी नियन्त्रण का एक अभिन्न अंग होता है। व्यवसाय के प्रबन्ध को एक सतत् कार्य के रूप में मानना चाहिये। स्थायी सम्पत्तियों का क्रय उत्पादन से पूर्व करना पड़ता है और जितना ही अधिक उनका सेवाकाल होता है, उतना ही अधिक माप में जोखिम भी होती है। प्रबन्ध को इस सम्बन्ध में एक दीर्घकालीन नीति बनानी पड़ती है। सामान्यत पूँजी खर्च बजटिंग विभिन्न प्रकार के पूँजी खर्चों का अनुमान शामिल होता है, परन्तु इस प्रकार का अनुमान या पूर्वानुमान एक खण्डित कार्य नहीं होता है, बल्कि एक दीर्घकालीन व सतत् कार्य होता है। अत सर्वप्रथम कम्पनी के भावी उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुये एक दीर्घकालीन पूँजी खर्च योजना बनाना जरूरी होता है जिस पर कम्पनी आने वाले कल में समय विचार कर सकती है। अत पूँजी खर्च का अनुमान करते समय न केवल वर्तमान आवश्यकताओं एवं उद्देश्यों को ध्यान में रखना चाहिये बल्कि भावी विकास व उद्देश्यों को ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक होता है। दीर्घकालीन पूँजी खर्च योजना को ध्यान में रखते हुये प्रत्येक संचालनाधिकारी अपने अपने विभाग से सम्बन्धित पूँजी खर्च के प्रस्ताव को प्रस्तुत करते है और प्रबन्ध उनके आधार पर पूँजी खर्च बजट के आकार व अन्य प्रबन्ध के सम्बन्ध में निर्णय लेता है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो रहा है कि पूँजी खर्च बजट वित्तीय बजट का ही एक भाग है और इसके अन्तर्गत अनुमानित पूँजीगत खर्चों के साथ साथ कई वर्षों के दौरान अर्थ प्रबन्धन हेतु उपलब्ध पूँजी के स्रोत व प्रकार का भी वर्णन किया जाता है। पूँजी-खर्च बजटिंग में मुख्य अभ्यास इस बात का है कि लाभ को लागत से किसी उचित ढंग से सम्बन्धित किया जाये, जो व्यवसाय के अधिकतम लाभ वाले उद्देश्य के अनुरूप हो। लेकिन पूँजी खर्च बजट पूँजी खर्च पूर्वानुमानों पर भी आधारित होता है, जो एक छितराया हुआ कार्य होता है।

इस प्रकार के पूँजी खर्च पूर्वानुमानों एवं अनुमानों को लगाने के लिये पूँजी-खर्च बजट को हम तीन भिन्न श्रेणियों मे रख सकते हैं –

(अ) प्रारम्भिक पूँजी खर्च बजट (Initial Capital Expenditure Budget)

(ब) पुनर्स्थापन व सम्वर्द्धन हेतु पूँजी खर्च बजट (Capital Expenditure Budget for Replacement & Expansion)

(स) वार्षिक पूँजी खर्च बजट (Annual Capital Expenditure Budget)

(अ) **प्रारम्भिक पूँजी खर्च बजट–** इस प्रकार के बजट निर्माण में निम्न बातों को ध्यान में रखना चाहिये–

(i) यह बजट सिविल वर्क्स, विद्युत कार्य, प्लाण्ट, मशीन, टूल्स की लागत, प्रारम्भिक व्यय, कार्यशील पूँजी के लिये आवश्यक सीमान्त धन के पूर्वानुमानों के आधार पर तैयार किया जाता है। यह अच्छा होता कि सावधानीपूर्वक विचार-विमर्श के बाद स्थापित क्षमता और कारखाने के आकार को निश्चित कर लिया जाये क्योंकि इसी के ऊपर उक्त मदों के पूँजी खर्च अनुमान निर्भर करते हैं।

(ii) जहाँ तक एक विशेष प्लाण्ट के क्रय सम्बन्धी निर्णय का या परियोजना की साध्यता की जाँच का प्रश्न है, परियोजना मूल्यांकन सम्बन्धी तकनीकियों का प्रयोग करना चाहिये।

(iii) नीति के अनुसार उच्च प्रबन्ध को निर्णय लेना चाहिये कि आवश्यक पूँजी का कितना भाग अंश निर्गमन द्वारा, ऋणपत्रों द्वारा, वित्तीय संस्थाओं एवं बैंक से दीर्घकालीन ऋणों द्वारा उगाहा (वसूला) जा सकता है।

(iv) परियोजना के आर्थिक पहलू के ठोस विश्लेषण के आधार पर ही पूँजी खर्च का अनुमान लगाना चाहिये परियोजना के क्रियान्वयन हेतु आवश्यक स्थायी सम्पत्तियों की प्रकृति व प्रकार तकनीकी व इन्जीनियरिंग विशेषज्ञों द्वारा निर्धारित की जानी चाहिये। इन सम्पत्तियों की लागत आर्थिक जीवनकाल व अन्त में रहने वाला अवशेष मूल्य का निर्धारण वित्तीय विशेषज्ञों द्वारा होना चाहिये। व्यवहार में तकनीकी व वित्तीय परामर्शदाताओं की सेवाओं को प्राप्त करना लाभदायक हो सकता है।

(v) तकनीकी एवं वित्तीय परामर्शदाताओं की रिपोर्ट प्राप्त होने के बाद और उनके द्वारा अनुमानित पूँजी खर्च होने के बाद और उनके द्वारा अनुमानित पूँजी-खर्च व प्राप्ति के आधार पर प्रारम्भिक पूँजी खर्च बजट का निर्माण किया जाता है, जिसमें पूँजी खर्च व पूँजी प्राप्तियों को दर्शाया जाता है। इसे कभी कभी परियोजना रिपोर्ट भी कहते हैं।

प्रश्न–2. विनियोग निर्णयन किस प्रकार किये जाते हैं? विवेचना कीजिये।

अथवा

विनियोग निर्णयन आप कैसे करेंगे?

अथवा

अपने संगठन में अतिरेक विधि के विनियोग का निर्णय आप किस प्रकार लेंगे?

उत्तर– विनियोग सम्बन्धी निर्णयों का व्यावसायिक उपक्रम की वित्त-व्यवस्था में काफी महत्वपूर्ण स्थान है। व्यावसायिक उपक्रम को विनियोग निर्णय लेने में बड़ी ही सावधानी बरतनी चाहिये। ऐसा करना इसलिये आवश्यक समझा जाता है कि व्यावसायिक उपक्रम को अपने अंशधारियों को अधिकतम लाभांश का भुगतान करना पड़ता है। अधिकतम लाभांश भुगतान कोई भी व्यावसायिक उपक्रम उस दशा में ही कर सकता है, जबकि वह अधिकतम

आय अर्जित कर सके। अधिकतम आय कोई भी व्यावसायिक उपक्रम उसी दशा में अर्जित कर सकता है, जबकि वह विनियोग सम्बन्धी उचित निर्णय ले सके। विनियोग सम्बन्धी उचित निर्णय लेकर ही कोई भी व्यावसायिक उपक्रम अधिकतम प्रत्याय प्राप्त कर सकता है और अंशधारियों को ऊँची दर पर लाभांश भुगतान कर सकता है।

विनियोग सम्बन्धी निर्णय लेने के लिये पूँजी की लागत को भी ध्यान में रखा जाना चाहिये और कम से कम उतनी आय अवश्य उपार्जित करनी चाहिये, जिससे इस पूँजी लागत का भुगतान सरलतापूर्वक किया जा सके।

विनियोग निर्णयन से सम्बन्धित प्रमुख तत्व– विनियोग निर्णयन से सम्बन्धित प्रमुख तत्व निम्नलिखित हैं–

(1) **व्यवसाय का प्रकृति–** यदि व्यवसाय निर्माणी प्रकृति का है, तो पूँजी का अधिकांश भाग स्थायी सम्पत्तियों में विनियोजित किया जायेगा। जबकि, यदि व्यवसाय व्यापारिक प्रकृति का है तो पूँजी का अधिकांश विनियोग चल सम्पत्तियों में किया जायेगा।

(2) **पूँजी की लागत–** व्यावसायिक उपक्रम में विनियोग सम्बन्धी निर्णय लेते समय पूँजी की लागत को भी ध्यान में रखा जाता है। पूँजी विनियोग द्वारा कम से कम पूँजी की लागत से अधिक राशि तो अवश्य प्राप्त होनी ही चाहिये।

(3) **व्यवसाय का आकार–** प्रायः लघु व्यावसायिक उपक्रमों के विनियोग सम्बन्धी निर्णय सरल तथा बड़े व्यावसायिक उपक्रमों के विनियोग सम्बन्धी निर्णय जटिल होते हैं, इसलिये विनियोग निर्णयन पर व्यावसायिक उपक्रम के आकार का भी प्रभाव पड़ता है।

(4) **स्थिर एवं चल सम्पत्तियों में विनियोग का अनुपात–** व्यावसायिक उपक्रम में विनियोग सम्बन्धी निर्णय लेते समय वित्तीय प्रबन्धकों को इस बात पर भी विचार-विमर्श करना होता है कि स्थिर एवं चल सम्पत्तियों में क्या अनुपात रखा जाये? स्थिर एवं चल सम्पत्तियों के अनुकूल मिश्रण द्वारा ही व्यावसायिक उपक्रम अधिकतम आय उपार्जित कर सकता है।

(5) **अधिकतम आय–** उपक्रम को ऐसे साधनों में ही पूँजी विनियोजित करनी चाहिये, जिनसे अधिकतम आय प्राप्त हो सके।

(6) **कम जोखिम में विनियोजन–** व्यावसायिक उपक्रम में विनियोजन सम्बन्धी निर्णय लेते समय जोखिम तत्वों को भी ध्यान में रखा जाता है। सामान्य रूप से उस स्थान पर पूँजी विनियोजित की जाती है, जहाँ कम से कम जोखिम हो।

(7) **नियन्त्रण–** व्यावसायिक उपक्रम में विनियोग से सम्बन्धित निर्णय लेते समय नियन्त्रण पर भी विचार-विमर्श करना चाहिये। सामान्य रूप से नियन्त्रण उसी व्यक्ति को प्राप्त होता है, जो अपनी पूँजी समता अंशों में विनियोजित करता है।

(8) **पूर्ण सुरक्षा–** व्यावसायिक उपक्रम में विनियोजित की जाने वाली राशि की सुरक्षा पर पहले विचार-विमर्श करना चाहिये। सामान्यतः ऐसे स्थानों पर ही पूँजी का विनियोजन करना चाहिये जहाँ राशि पूर्णरूपेण सुरक्षित हो।

(9) **नियमितता–** पूँजी विनियोजित करते समय विनियोग का भविष्य तथा आय की नियमितता आदि तत्वों पर और विचार-विमर्श कर लेना चाहिये।

यदि उपर्युक्त तत्वों को ध्यान में रखते हुये कोई भी व्यावसायिक उपक्रम विनियोग सम्बन्धी निर्णय लेता है तो उसके द्वारा लिया गया यह निर्णय उस उपक्रम के लिये अत्यन्त ही उपयोगी होगा।

प्रश्न–3. पूँजी बजटन की पे–बैक पीरियड अथवा प्रत्यावर्तन अवधि को समझाइये एवं इसके लाभ तथा सीमाओं पर प्रकाश डालिये। इस विधि में सुधार के लिये सुझाव दीजिये।

अथवा

पूँजी व्यय की अदायगी की अवधि विधि को समझाइये। अदायगी अवधि विधि के गुण–दोषों को बताइये।

अथवा

पूँजी बजटन की वैकल्पिक पूँजीगत व्ययों के मूल्यांकन की पुनर्भुगतान अवधि विधि को स्पष्ट रूप से समझाइये। तथा इसके गुण एवं दोषों की विवेचना कीजिये।

उत्तर– पे–बैक पीरियड अथवा अदायगी अवधि विधि विनियोजन प्रस्तावों के मूल्यांकन की परम्परागत विधियों में सर्वाधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय विधि है। प्रत्येक व्यावसायिक उपक्रम का किसी परियोजना के चुनाव में अधिकतम लाभ प्राप्त करना जहाँ प्रमुख उद्देश्य है, वहाँ व्यावसायिक उपक्रम व्यावसायिक लागत को कम से कम समय में वसूल करना चाहती है। इसलिये वह समय जिसके अन्तर्गत एक परियोजना की लागत की अदायगी होने की सम्भावना होती है। उसे पे–बैक पीरियड या अदायगी अवधि या रोकड़ वसूली या अवधि या वसूली अवधि कहते हैं।

किसी परियोजना में विनियोजित राशि जितनी अवधि में वापिस प्राप्त हो जाती है, उस अवधि को पुनर्भुगतान अवधि कहते हैं। विनियोजित पूंजी से हर वर्ष जो आय अर्जित की जाती है या जो बचत प्राप्त की जाती है, उसे रोकड़ अर्जन, रोकड़ बचत अथवा शुद्ध रोकड़ अन्तर्वाह कहा जाता है।

शुद्ध रोकड़ अन्तर्वाह के आधार पर पूँजी सम्पत्ति में किये गये विनियोग के पुनर्भुगतान की अवधि ज्ञात की जाती है। यदि सभी वर्षों में शुद्ध रोकड़ अन्तर्वाह की राशि समान रहती है तो विनियोजित राशि में से इस रोकड़ अन्तर्वाह की वार्षिक राशि का भाग देकर परियोजना के पुनर्भुगतान की अवधि ज्ञात की जाती है। एक ही परियोजना की स्थिति में यदि यह अवधि प्रबंध की स्वीकार्य अवधि के बराबर अथवा उससे कम होती है तो उस परियोजना को स्वीकार कर लिया जाता है या अस्वीकार कर दिया जाता है। एक से अधिक वैकल्पिक परियोजनाओं में से किसी एक ही परियोजना को इस विधि के अनुसार अधिक वैकल्पिक परियोजनाओं में से किसी एक ही परियोजना को इस विधि के अनुसार चुनना हो तो उस परियोजना को चुना जाता है, जिसकी पुनर्भुगतान अवधि सबसे कम होती है।

इस विधि का प्रयोग करने के लिये दो बातों की जानकारी आवश्यक होती है–

(1) परियोजना में विनियोजन की कुल राशि।

(2) परियोजना से प्राप्त होने वाली वार्षिक बचत या शुद्ध वार्षिक रोकड़ अन्तर्वाह। परियोजना में विनियोजन की अनुमानित राशि विनियोग प्रस्ताव में दी जाती है तथा शुद्ध वार्षिक अन्तर्वाह की राशि ज्ञात कर ली जाती है। इसे हम निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं–

(1) सम्पत्ति से प्रतिवर्ष समान शुद्ध रोकड़ अन्तर्वाह होने पर पुनर्भुगतान अवधि की गणना– सम्पत्ति में किये गये विनियोग से यदि प्रतिवर्ष समान शुद्ध रोकड़ अन्तर्वाह होता है तो परियोजना के पुनर्भुगतान की अवधि को निम्न सूत्र की सहायता से ज्ञात किया जा सकता है–

$$\text{Pay Back Period} = \frac{\text{Initial Investment}}{\text{Net Annual Cash Inflows}} \text{ Or } \frac{I}{C}$$

Where P = Pay-Back Period

I = Initial Investment

C = Net Annual Cash Inflows

(2) सम्पत्ति से प्रतिवर्ष असमान रोकड़ अन्तर्वाह होने पर पुनर्भुगतान अवधि की गणना– जब किसी सम्पत्ति से प्रतिवर्ष समान रोकड़ अन्तर्वाह नहीं होता है, तब पुनर्भुगतान अवधि की गणना संचयी बचत की सहायता से की जाती है। प्रत्येक वर्ष की बचत को अगले वर्ष की बचत की राशि में उस समय तक जोड़ा जाता है, जब तक संचयी बचत की राशि सम्पत्ति में किये गये कुल विनियोग की राशि के बराबर नहीं हो जाती है। जिस अवधि की बचत विनियोग की वास्तविक लागत के बराबर हो जाती है, उसी अवधि को पुनर्भुगतान अवधि कहा जाता है। पुनर्भुगतान अवधि ज्ञात करते समय उस समय कठिनाई उत्पन्न होती है, जब विनियोग की कुल लागत के बराबर राशि ज्ञात करने के लिये वार्षिक बचत का थोड़ा सा भाग ही प्रयोग करना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में वार्षिक बचत की राशि को पूरे वर्ष में समान रूप से प्राप्त किया हुआ मान लिया जाता है तथा वार्षिक बचत की राशि का जितना भाग प्रयोग किया जाता है, उसकी कुल वार्षिक बचत राशि से अनुपात निकालकर उसे 12 महीनों की अवधि से गुणा कर दिया जाता है, जिससे महीनों में अवधि आ जाती है जिसे पूरे वर्षों की अवधि में जोड़ देने पर सम्पत्ति के पुनर्भुगतान की अवधि ज्ञात कर ली जाती है।

पुनर्भुगतान अवधि विधि के गुण– पुनर्भुगतान अवधि विधि के गुण निम्नलिखित हैं–

(1) पुनर्भुगतान अवधि विधि का प्रयोग करना एवं समझना बहुत सरल है।

(2) यह विधि ऐसी संस्थाओं के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण होती है, जिनमें रोकड़ की कमी होती है तथा जो परियोजना की वित्त व्यवस्था ऋण लेकर करती है।

(3) इस प्रकार के उद्योग, जिनमें तकनीकी प्रगति बहुत तेजी से होती है, वहाँ मशीनों के प्रचलन का भय अधिक रहता है, इसलिये उन्हीं परियोजनाओं को चुना जाता है, जिनकी पुनर्भुगतान अवधि कम से कम हो।

(4) इस विधि में परियोजना के सम्पूर्ण जीवन पर विचार नहीं किया जाता है, बल्कि उसकी लागत के केवल पुनर्भुगतान की अवधि पर ही विचार किया जाता है। इसलिये अल्पकालीन विक्रय व लागत तत्वों के अनुमान अधिक सही होते हैं।

पुनर्भुगतान अवधि विधि के दोष या सीमायें– इस विधि में अनेक दोष अथवा कमियाँ हैं जो निम्नलिखित हैं–

(1) इस विधि में विनियोग की लाभदायकता की अपेक्षा उसकी तरलता पर अधिक ध्यान दिया जाता है, जो कि उचित नहीं है।

(2) इस विधि में विनियोग पुनर्भुगतान पर ध्यान दिया जाता है। यह विधि विनियोग के जीवनकाल में प्राप्त कुल आय पर विचार नहीं करती है।

(3) यह विधि पूँजी की लागत की उपेक्षा करती है, पूंजी की लागत ही सुदृढ़ विनियोग निर्णयों का आधार होती है। इसलिये यह विधि सुदृढ़ विनियोग निर्णयों का आधार नहीं हो सकती है।

(4) इस विधि में सम्पत्ति के अवशेष मूल्य पर विचार नहीं किया जाता है।

(5) इस विधि मे परियोजना की जोखिम पर कोई विचार नहीं किया जाता है। किसी परियोजना की पुनर्भुगतान की अवधि कम होने पर अत्यधिक जोखिमपूर्ण योजना को भी स्वीकार कर लिया जाता है जो कि उचित नहीं है।

पुनर्भुगतान विधि में सुधार– पुनर्भुगतान अवधि विधि की कमियों को दूर करने के लिये कुछ विद्वानों ने सुधार के इसमें सुझाव दिये हैं, जिनमें से कुछ सुझाव निम्नलिखित हैं–

(1) पुनर्भुगतान अवधि के बाद परियोजना की लाभ नहीं देखी जाती है। इस दोष को दूर करने के लिये यह सुझाव दिया जाता है कि पुनर्भुगतान अवधि के बाद परियोजना से सबसे अधिक आय प्राप्त हो सके।

(2) इस विधि में सम्पत्ति के निरस्तरण मूल्य को ध्यान में नहीं रखा जाता है। इस कमी को दूर करने के लिये बेल आउट पुनर्भुगतान अवधि की गणना की जा सकती है।

(3) पुनर्भुगतान अवधि विधि के अन्तर्गत न तो समय कारक पर ध्यान दिया जाता है और न ही विनियोग पर प्रत्याय दर की गणना की जाती है। इन दोनों कमियों को पुनर्भुगतान अवधि व्युत्क्रमों की गणना करके दूर किया जा सकता है।

प्रश्न–1. दो परियोजनाओं के सम्बन्ध में निम्न विवरण है–

		Project X	Project Y
Cost of the project		**1,60,000**	**2,00,000**
Estimated scrap		**16,000**	**24,000**
Estimated savings			
Year	1	20,000	40,000
,,	2	30,000	60,000
,,	3	50,000	60,000
,,	4	50,000	60,000
,,	5	40,000	30,000
,,	6	30,000	20,000
,,	7	16,000	–

पे–बैक पीरियड की गणना कीजिये और विचार कीजिये कि कौन–सी परियोजना उत्तम है?

Soluiton:

	Project X		Project y	
Year	**Savings**	**Cumulative Savings**	**Saving**	**Cumulative Savings**
1.	20,000	20,000	40,000	40,000
2.	30,000	50,000	60,000	1,00,000
3.	50,000	1,00,000	60,000	1,60,000
4.	50,000	1,50,000	60,000	2,20,000
5.	40,000	1,90,000	–	–

पेबैक पीरियड की गणना–

$$\text{Project X} = 4 \text{ Years} + \left(\frac{10,000}{40,000} \times 12 \text{ Months}\right)$$

$$= 4 \text{ years. } 3 \text{ months}$$

$$\text{Project Y} = 3 \text{ years} + \left(\frac{40,000}{60,000} \times 12 \text{ months}\right)$$

$$= 3 \text{ years. } 8 \text{ months}$$

प्रश्न–5. परियोजनाओं के मूल्यांकन के आन्तरिक प्रत्याय दर तथा शुद्ध वर्तमान मूल्य विधियों की तुलना कीजिये।

उत्तर– परियोजनाओं के मूल्यांकन के आन्तरिक प्रत्याय दर तथा शुद्ध वर्तमान मूल्य की तुलना इस प्रकार है–

(1) शुद्ध वर्तमान मूल्य पद्धति– इस पद्धति का प्रयोग तब किया जाता है, जब प्रबंध द्वारा विनियोगों पर न्यूनतम प्रत्याय दर निर्धारित कर दी जाती है। इस विधि के अन्तर्गत विनियोगों से प्राप्त रोकड़ अन्तर्वाहों का प्रबन्ध द्वारा निर्धारित अपेक्षित प्रत्याय दर से करके वर्तमान मूल्य ज्ञात किया जाता है। इस वर्तमान मूल्य की विनियोग लागत से तुलना की जाती है। यदि अन्तर्वाहों का वर्तमान मूल्य विनियोगों की लागत के बराबर अथवा अधिक होता है, तो परियोजना को स्वीकार किया जाता है, अन्यथा अस्वीकार कर दिया जाता है।

शुद्ध वर्तमान मूल्य की गणना– इसके लिये सर्वप्रथम परियोजना से प्राप्त अन्तर्वाहों का प्रबन्ध द्वारा निर्धारित दर से बट्टा करके वर्तमान मूल्य ज्ञात किया जाता है तथा जो शेष प्राप्त होता है, वही शुद्ध वर्तमान मूल्य कहलाता है। इसे सूत्र रूप में इस प्रकार लिखा जा सकता है–

$$NPV = PVI$$

Where

NPV = Net Present value

PV = Present value

I = Initial investment

वर्तमान मूल्य का निर्देशांक– यदि विनियोगों की प्रारम्भिक लागतों में बहुत अधिक का अन्तर हो, तो शुद्ध वर्तमान मूल्य पद्धति द्वारा उनका सही मूल्यांकन संभव नहीं है। इस उद्देश्य के लिये वर्तमान मूल्य अधिक उचित प्रतीत होता है। इसके लिये PV में विनियोग की राशि से भाग दिया जाता है और प्राप्त प्रतिफल में 100 का गुणा किया जाता है। इस प्रकार प्रतिफल प्रतिशत में परिवर्तित हो जाता है।

सूत्र रूप में– $\text{Present value Index} = \frac{PV}{I}$

Where :

PV = Present value

I = Initial investment

शुद्ध वर्तमान मूल्य पद्धति के लाभ–

1. इस विधि के अन्तर्गत मुद्रा के समय मूल्य को ध्यान में रखा जाता है।
2. इसके अन्तर्गत परियोजना के सम्पूर्ण जीवन काल की आय को ध्यान में रखा जाता है।
3. इसके अन्तर्गत अधिकतम लाभदायकता के उद्देश्य को ध्यान में रखा जाता है।

दोष–

1. परम्परागत विधियों की तुलना में यह एक जटिल विधि है।
2. असमान विनियोग की स्थिति में इससे प्राप्त प्रतिफल उतने अच्छे नहीं होते, जितने होने चाहिये।
3. समुचित बट्टा दर का निर्धारण एक अत्यन्त कठिन काम है।

प्रत्याय की आन्तरिक दर विधि– शुद्ध वर्तमान मूल्य विधि में प्रत्याय दर पूर्व से ही ज्ञात होती है। अतः भावी अर्जित शक्तियों का वर्तमान मूल्य सरलता से ज्ञात किया जा सकता है। यदि प्रत्याय दर पूर्व से ज्ञात नहीं है तो ऐसी स्थिति में भविष्य में प्राप्त होने वाली राशियों के वर्तमान मूल्य को प्रारम्भिक विनियोग के बराबर करना होगा। इसके लिये जिस दर का प्रयोग किया जाता है, उसे प्रत्याय की आन्तरिक दर कहते हैं। प्रत्याय की आन्तरिक दर को अनेक नामों से जाना जाता है–

1. रोकड़ प्रवाहों के अपलेखन की बट्टा दर। 2. समय समायोजित दर।
3. उपार्जित दर। 4. पूँजी की सीमान्त उत्पादकता।

5. परियोजना प्रत्याय दर।

सूत्र के रूप में–

$$I = \sum \left[\frac{Rt}{(1+r)^t} \right]^T$$

Where– I = Initial Investment R = Returns
r = Internal Rate or Return T = Expected life of the Project
t = Number of years

प्रत्याय की दर का निर्धारण– प्रत्याय की आन्तरिक दर ज्ञात करने के लिये "भूल एवं सुधार" विधि का प्रयोग किया जाता है। प्रारम्भ में कोई भी अनुमानित दर ले ली जाती है तथा उसके आधार पर परियोजना से प्राप्त रोकड़ अन्तर्वाहों का बट्टा करके उनका वर्तमान मूल्य ज्ञात किया जाता है। इस प्रकार प्राप्त P.V. की परियोजना के प्रारम्भिक विनियोग से तुलना की जाती है। यदि P.V. और I बराबर हो जाये तो स्थिति सही प्रत्याय की आन्तरिक दर को बतायेगी। यदि वर्तमान मूल्य प्रारम्भिक विनियोग से कम है। अर्थात् PV< I, तो नीची दर का प्रयोग करना चाहिये। इसी प्रकार यदि PV>I हो तो ऊंची दर का प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार 'भूल एवं सुधार' प्रक्रिया का प्रयोग तब तक होता रहेगा, जब तक PV= I नहीं हो जाये।

आन्तरिक प्रत्याय दर के लाभ–

(1) इस विधि के अन्तर्गत मुद्रा के समय मूल्य का महत्व दिया जाता है।
(2) यह विधि परियोजना के सम्पूर्ण जीवन-काल की लाभदायकता को ध्यान में रखती है।
(3) इस विधि के अन्तर्गत अधिकतम लाभदायकता पर भी ध्यान दिया जाता है।

आन्तरिक प्रत्याय दर के दोष–

(1) इस विधि के अन्तर्गत विनियोग प्रस्तावों का मूल्यांकन एक जटिल काम है। अतः यह एक अधिक जटिल विधि है।
(2) यह विधि लेखांकन की अवधारणाओं के अनुरूप लागत एवं आगम समंकों का अभिलेखन नहीं करती।
(3) किसी परियोजना या उसके सम्पूर्ण जीवन-काल में प्राप्त होने वाले रोकड़ अन्तर्वाहों का सही मूल्यांकन करना कठिन होता है।

प्रश्न–6. शुद्ध वर्तमान मूल्य तथा आन्तरिक प्रत्याय दर विधि का तुलनात्मक अध्ययन कीजिये।

अथवा

शुद्ध वर्तमान मूल्य एवं आन्तरिक प्रत्याय दर विधि में अन्तर कीजिये। इसके गुण-दोषों पर प्रकाश डालिये।

उत्तर– पूँजी विनियोगों अथवा परियोजनाओं के मूल्यांकन की शुद्ध वर्तमान मूल्य एवं आन्तरिक प्रत्याय दर विधियाँ ही समय समायोजन प्रत्याय दर के सिद्धान्त पर आधारित हैं। इसलिये ऐसा अनुभव होता है, कि ये दोनों विधियाँ एक समान ही हैं, लेकिन वास्तविकता में ऐसा नहीं है। ये दोनों विधियाँ विनियोग प्रस्तावों के मूल्यांकन के अनेक प्रश्नों का उत्तर देती हैं। दोनों विधियों में हमेशा समान परिणाम आना सम्भव नहीं है। इन दोनों विधियों में निम्नलिखित अन्तर है–

(1) शुद्ध वर्तमान मूल्य विधि में परियोजना के रोकड़ अन्तर्वाहों का वर्तमान मूल्य ज्ञात करने के लिये प्रत्याय दर अथवा बट्टा दर पहले से ज्ञात होती है, इसलिये उसी दर से रोकड़ अन्तर्वाहों को बट्टा करके वर्तमान मूल्य ज्ञात किया जाता है। इस

वर्तमान मूल्य में से परियोजना की लागत कम करके शुद्ध वर्तमान मूल्य ज्ञात कर लिया जाता है। जबकि प्रत्याय की आन्तरिक दर विधि में प्रत्याय दर ज्ञात नहीं होती है, बल्कि एक ऐसी प्रत्याय दर ज्ञात की जाती है जिस पर परियोजना से प्राप्त रोकड़ अन्तर्वाहों का वर्तमान मूल्य परियोजना की लागत के समान हो जाता है।

(2) शुद्ध वर्तमान मूल्य विधि में अपेक्षित प्रत्याय दर ज्ञात चल होता है, इसके विपरीत प्रत्याय की आन्तरिक दर विधि में यह अज्ञात चल होता है।
(3) प्रत्याय की आन्तरिक दर विधि से ज्ञात प्रत्याय की दर विनियोग के लिये प्राप्त किये गये कोषों पर देय ब्याज की अधिकतम दर निर्धारित करती है अर्थात् विनियोग के लिये प्राप्त कोषों की लागत इस दर से किसी भी दशा में अधिक नहीं होनी चाहिये। जबकि शुद्ध वर्तमान मूल्य विधि इस बात से अवगत कराती है कि किसी परियोजना में अधिकतम कितनी राशि विनियोजित की जाये, जिससे परियोजना से प्राप्त आय इसमें विनियोजित पूंजी पर बाजार दर पर ब्याज सहित भुगतान के लिये उपयुक्त हो।

समय समायोजित प्रत्याय दर विधियों के गुण– समय समायोजित प्रत्याय दर विधियों के निम्नलिखित गुण हैं–

(1) इन विधियों में विनियोग पर आय प्राप्ति की दृष्टि से विनियोग अथवा परियोजना के पूर्ण जीवन काल पर विचार-विमर्श किया जाता है।
(2) इन विधियों में आय प्राप्ति के 'समय कारक' पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है, अर्थात् भविष्य में प्राप्त होने वाली आय का उपयुक्त दर से बट्टा करके वर्तमान मूल्य ज्ञात किया जाता है।
(3) समय समायोजित प्रत्याय दर विधियों में विनियोग में निहित जोखिम तथा अनिश्चितता पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है तथा इन्हीं के अनुसार अपेक्षित प्रत्याय दर निर्धारित की जाती है।
(4) इन विधियों की सहायता से अनेक परियोजनाओं की तुलनात्मक लाभदायकता का मूल्यांकन किया जा सकता है।
(5) शुद्ध वर्तमान मूल्य विधि, लाभदायकता निर्देशांक विधि तथा प्रत्याय की आन्तरिक दर विधि के माध्यम से ऐसी परियोजनाओं का भी सरलतापूर्वक मूल्यांकन किया जा सकता है, जिनमें विनियोजित राशि भिन्न-भिन्न हो तथा भिन्न-भिन्न परियोजनाओं से अनेक वर्षों में असमान राशि प्राप्त होती हो।

समय-समायोजित प्रत्याय दर विधियों के दोष अथवा सीमायें– इन विधियों की निम्नलिखित सीमायें होती है–

(1) समय समायोजित प्रत्याय दर विधियों को व्यवहार में समझना तथा प्रयोग करना जटिल माना जाता है।
(2) किसी परियोजना या उसके सम्पूर्ण जीवन काल में प्राप्त होने वाले रोकड़ अन्तर्वाहों का सही-सही मूल्यांकन करना जटिल कार्य होता है।
(3) इन विधियों में परियोजना की लागत की पूर्व की गणना करना जटिल होती है, इसलिये इनमें अशुद्धता का हमेशा भय बना रहता है।
(4) इन विधियों में लेखांकन की अवधारणाओं के अनुरूप लागत एवं आगम समंकों का अभिलेखन नहीं रखा जाता है।

(5) शुद्ध वर्तमान मूल्य विधि में परियोजना के रोकड़ अन्तर्वाहों का बट्टा अपेक्षित प्रत्याय दर के आधार पर किया जाता है, किन्तु समुचित अपेक्षित प्रत्याय दर का निर्धारण स्वयं अपने आप में एक जटिल समस्या है।

प्रश्न–7. विनियोजित पूँजी पर प्रत्याय से क्या आशय है? इसकी गणना कैसे की जाती है?

अथवा

विनियोजित पूँजी से क्या आशय है? इस पर प्रत्याय की गणना किस प्रकार की जाती है?

उत्तर– प्रत्येक व्यावसायिक संस्था का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना होता है और इस उद्देश्य के आधार पर संस्था की प्रगति एवं कार्यक्षमता की जांच की जा सकती है।

व्यावसायिक संस्था की कुशलता उसके द्वारा कमायी गई लाभ की मात्रा के आधार पर मापी जा सकती है। लाभ के आधार पर कुशलता की माप करने के लिये जिस सिद्धान्त का प्रयोग किया जाता है उसे विनियोजित पूँजी पर प्रत्याय के नाम से जाना जाता है। विनियोजित पूँजी पर प्रत्याय को समझने के लिये हम सबसे पहले विनियोजित पूँजी को समझना होगा।

विनियोजित पूँजी का अर्थ– इस शब्द का अर्थ प्रमुख रूप से निम्नलिखित तीन रूपों में लगाया जाता है

1. **कुल विनियोजित पूँजी**– इसमें स्थायी तथा चल-सम्पत्तियों को सम्मिलित किया जाता है।
2. **शुद्ध विनियोजित पूँजी**– इसमें स्थायी तथा चल-सम्पत्तियों के जोड़ में से चल-दायित्वों को घटा दिया जाता है।
3. **अंशधारियों की शुद्ध विनियोजित पूँजी**– **प्रत्याय का अर्थ**– प्रत्याय से आशय संस्था द्वारा कमाये गये शुद्ध लाभ या आय से होता है। लाभ की अनेक परिभाषायें होती है, उदाहरणार्थ– साधारण व्यापारिक दृष्टिकोण से जो खाते तैयार किये जाते है उनके आधार पर निकाला गया लाभ उस लाभ से कम या अधिक हो सकता है जो आयकर की दृष्टि से निकाले जाते है।

विनियोजित पूँजी पर प्रत्याय ज्ञात करने की विधि

विनियोजित पूँजी पर प्रत्याय ज्ञात करने का सूत्र निम्नलिखित है–

$$\text{कुल विनियोजित पूँजी पर प्रत्याय} = r = \frac{R}{NE} = 100$$

R = प्रत्याय, NE = कुल सम्पत्ति, r = प्रत्याय-दर(कुल सम्पत्ति अर्थात् कुल विनियोजित पूँजी)

इस रीति के गुण या लाभ– इस रीति के प्रयोग से निम्नलिखित लाभ प्राप्त होने की सम्भावना होती है–

(1) इसका वृहत प्रयोग होता है, क्योंकि यह समझने में सरल और गणना में साधारण होती है।

(2) विनियोग के संपूर्ण आर्थिक जीवन अवधि के लाभों को ध्यान में रखती है।

(3) यह रीति शुद्ध आय की विचारधारा को मान्यता प्रदान करती है अर्थात् कुल आय में से पूँजीगत सम्पत्तियों पर ह्रास को घटाने का प्रावधान करती है।

(4) जिन विनियोगों की बचत की समय सारणी करीब-करीब एक समान ही होती है। उनमें सही अन्तर इस रीति द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

(5) नवीन उत्पाद परियोजनाओं, लागत में कमी सम्बन्धी परियोजनाओं व अन्य प्रतिस्पर्धात्मक परियोजनाओं का तुलनात्मक अध्ययन इस रीति द्वारा ही सम्भव हो पाता है।

इस रीति के दोष या सीमायें– जहां एक तरफ विनियोग पर असमायोजित प्रत्याय दर से उक्त लाभ प्राप्त होने की सम्भावना होती है। वहीं दूसरी तरफ इसमें अनेक कमियां पायी जाती है, जिन्हें इस रीति की सीमायें कहते है। कुछ कमियों या दोष या सीमायें निम्न प्रकार है–

(1) दीर्घकालीन परियोजनाओं की दशा में यह रीति सही व शुद्ध दृष्टिकोण का चित्रण नहीं कर सकती है। निर्यात के अति मूल्यांकन का भय बना रहता है। यह अति मूल्यांकन इस कारण से हो सकता है, कि इस रीति में विभिन्न समयों पर किये जाने वाले विनियोग व विभिन्न समयान्तर पर प्राप्त होने वाली आय के सम्बन्ध में छूट को कोई स्थान नहीं दिया जाता है।

(2) यह रीति विभिन्न विनियोगों के जीवनकाल को भी ध्यान में नहीं रखती है। जहाँ औसत आय की गणना में जीवनकाल के वर्षों की संख्या को ध्यान में रखा जाता है। विनियोग के मूल्य निर्धारण में इसका ध्यान नहीं रखा जाता है। इस प्रकार प्रारम्भिक विनियोग या औसत विनियोग एक समान ही हो सकता है, चाहे परियोजना का जीवनकाल 4 वर्ष हो या 6 वर्ष हो।

(3) सूत्र के प्रयुक्त विभिन्न पदों का निर्वचन भिन्न-भिन्न रूप में हो सकता है। उदाहरण– औसत आय का कार्य ह्रास के बाद की आय से भी हो सकता है, और ह्रास के पूर्व की आय से भी हो सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि भिन्न-भिन्न अर्थों में पदों का प्रयोग एक ही परियोजना के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दरें दर्शा सकता है।

(4) न्यूनतम या यथोचित प्रत्याय की दर प्रमाप के रूप में निर्धारित करना भी एक जटिल कार्य होता है। और इसके निर्धारण में कृत्रिमता या काल्पनिकता का भय बना रहता है।

प्रश्न–8. (1) निम्न विवरणों के आधार पर, जो एक पूंजी परियोजना के सम्बन्ध में है, ज्ञात कीजिये– (i) पुनर्भुगतान अवधि, (ii) प्रत्याय दर, (iii) वर्तमान मूल्य निर्देशांक (पूंजी की लागत 10% है)– (1) Initial Capital Rs. 12,000, Annual Cash Inflow Rs. 2,000, Life in years & Present value of Re. 1 received annually for 8 years is Rs. 5.3349.

Solution : (i) Pay-back Period

$$\text{Pay-back Period} = \frac{\text{Net Investment}}{\text{Annual Cash Inflow}} = \frac{12,000}{2,000} = 6 \text{ Years}$$

(ii) Return on Investment

$$\text{ROI} = \frac{\text{(Annual Cash inflow–Depreciation)}}{\text{Average Investment}} \times 100 = \frac{2,000 - 1,500}{\frac{12,000 + 0}{2}} \times 100$$

$$= \frac{500}{6,000} \times 100 = 8.30\ \%$$

(iii) Present Value Index

$$\text{PV Index} = \frac{\text{Present Values of Annual Cash Inflow}}{\text{Initial Investemt}}$$

$$= \frac{10,670}{12,000} = 0.889 \text{ or } 88.9\%$$

(2) Lohia Drycleaners is Considering the Purchase of new wash and dry equipement in order to expand its operations. Two types of options are available : a low speed system (LSS) with a Rs. 30,000

initial cost and a high speed system (HSS) with a Rs. 45,000 initial cost. Each system has a 15 year life and no salvage value. The net cast flow after taxes (CFAT) associated with each investment proposal are :

	Low Speed System(LSS)	High Speed System (HSS)
CFAT for years 1 through 15	Rs. 6,000	Rs. 9,000

लोहिया इंजीनियर्स को कौन–सी प्रणाली चुननी चाहिये यह मानते हुये कि पूँजी की लागत/बट्टा दर 14% है।

Solution : उस प्रणाली को चुनना चाहिये जिसका शुद्ध रोकड़ मूल्य अधिक हो। शुद्ध रोकड़ मूल्य का निर्धारण नीचे तालिका में दिया है–

Year	CFAT		PV Factor at 14%	Total present value	
	LSS	HSS		LSS	HSS
1–15	6,000	9,000	6.142	36,852	55,278
Deduct : Initial Cost				30,000	45,000
Net Present Value				6,852	10,278

उच्च गति प्रणाली (HSS) को चुनना चाहिये, क्योंकि इसका शुद्ध वर्तमान मूल्य 10,278 रु. है जबकि धीमी गति प्रणाली का शुद्ध मूल्य 6.852 रुपये ही है।

(3) The following details relate to the two machines X & Y :

	Machine X	Machine Y
Cost	56,125	56,125
Estimated life	5 years	5 years
Estimated salvage value	3,000	3,000

Annual Income after tax and depreciation :

Year	Rs.	Rs.
I	3,375	11,375
II	5,375	9,375
III	7,375	7,375
IV	9,375	5,375
V	11,375	3,375

Overhauling charges at the end of third year are Rs. 25,000. Depreciation has been charged at straight line method. Discount rate is 10% P.V.F. at 10% for five years are 0.909, 0.826, 0.751, 0.683, 0.621.

सुझाव दीजिये कि किस परियोजना को स्वीकार किया जाये?

Soultion : सबसे पहले हमें शुद्ध वार्षिक रोकड़ प्रवाह (Net Annual Cash Inflow) ज्ञात करना होगा। शुद्ध वार्षिक रोकड़ प्रवाह कर पश्चात् शुद्ध आय तथा ह्रास का योग होता है अर्थात् इस प्रश्न में कर तथा ह्रास पश्चात् वार्षिक आय को कर पश्चात् परन्तु ह्रास पूर्व वार्षिक आय में बदलना होगा।

Calculation of Average Annual Depreciation :

$$\text{Machinery X} = \frac{56,125 - 3,000}{5} = \text{Rs. } 10,625$$

$$\text{Machinery Y} = \frac{56,125 - 3,000}{5} = \text{Rs. } 10,625$$

Calculation of Annual Income after tax and before depreciation :

Year	Project X	Project Y
I	3,375 + 10,625 = Rs. 14,000	11,375 + 10,625 = Rs. 22,000
II	5,375 + 10,625 = Rs. 16,000	9,375 + 10,625 = Rs. 20,000
III	7,375 + 10,625 = Rs. 18,000	7,375 + 10,625 = Rs. 18,000
IV	9,375 + 10,625 = Rs. 20,000	5,375 + 10,625 = Rs. 16,000
V	11,375 + 10,625 = Rs. 22,000	3,375 + 10,625 = Rs. 14,000

Calculation of Present Value of annual net cash inflows after tax and before depreciation :

Year	P.V.F.	Project X Rs.		Project Y Rs.	
		Annual Net Cash Inflows	Present Values	Annual Net Cash Inflows	Present Values
I	0.909	14,000	12,726	22,000	19,998
II	0.826	16,000	13,216	20,000	16,520
III	0.751	18,000	13,518	18,000	13.518
IV	0.683	20,000	13,660	16,000	10,928
V	0.621	22,000	13,662	14,000	8,694
Total		90,000	66,782	90,000	69.658

Calculation of Present Value of Intitiaal Investment + Overhauling charges at the end of third year :

	Project X	Project Y
Initial Investment	56,125	56,125
Overhauling charges at the end of thired year (Rs. 25,000 in each Project) Its Present Value = Rs. 25,000 × 0.751 = Rs. 18,775	18,775	18,775
	74,900	74,900

Calculation of Net Present Value

NPV = PV – Initial Investment + Discounted value of Overhauling charges.

Project X = Rs. 66,782 – (56,125 + 18,775)
= Rs. 66,782 – (74,900) = Rs. (–) 8,118

Project Y = Rs. 69,658 – (56,125 + 18,775)
= Rs. 69,658 – (74,900) = Rs. (–) 5,242

दोनों ही परियोजनाओं में Net Present Value ऋणात्मक है, अतः दोनों ही परियोजनाओं को अस्वीकार किया जावे।

(4) आवश्यक गणनाओं के आधार पर बताइये कि एक टैक्सी ड्राईवर को कौन–सी कार खरीदनी चाहिये? On the basis of appropriate calculation, indicate which one of the following cars should be Purchased by a taxi driver:

	Car A	Car B
Initial Cost:	29,000	32,000
Cash Inflow:		
after one year	18,000	15,000
after two years	14,000	17,000
after three years	10,000	19,000

The prevailing rate of interest is 9%

Solution :

(i) According to Pay-back Period method :

Pay-back Period for Car A $= 1 + \frac{11,000}{14,000} \times \frac{12}{1}$

$= 1$ yrs and 9.43 months

Pay-back Period for Car B $= 2$ yrs.

Pay-back Period for Car A is 1 year and 9.43 months and for car B is 2 years and thus taking this method into consideration, car A would purchased.

(ii) According to Net Present Value Method :

Net Present Value

Cost of Capital is 9%

	Car A			Car B	
Year	**Cash Inflow Rs.**	**Present Value Factor**	**Present Value Rs.**	**Cash Inflow Rs.**	**Present Value Rs.**
		9%			
1	18,000	0.917	16,506	15,000	13,755
2	14,000	0.842	11,788	17,000	14,314
3	10,000	0.772	7,720	19,000	14,668

Total	Rs. 36,014	Rs, 42,737
Less : Cost of car	Rs. 29,000	Rs, 32,000
Net Present value	Rs. 7,014	Rs. 10,737

Taking into consideration the net present value Car B is more Profitable.

(iii) According to Profitability Index :

Car A $= \frac{36,014}{29,000} = 1.24$ Car B $= \frac{42,737}{32,000} = 1.34$

Taking into consideration the Profitability index Car B is more Profitable.

विद्यमान 9% बट्टा दर को ध्यान में रखते हुये Car 'B' खरीदी जानी चाहिये।

लघुउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–(1) पूँजी बजटन से क्या आशय है? इसकी आवश्यकता क्यों पड़ती हैं?

उत्तर– पूँजी बजटन से हमारा आशय एक क्रमबद्ध विनियोग कार्यक्रम की अभिकल्पना करने से है। पूँजी बजटन की कुछ प्रमुख परिभाषायें निम्नलिखित हैं–

1. चार्ल्स हार्नग्रीन के अनुसार– "पूँजी बजटन प्रस्तावित पूँजी व्ययों के करने और अर्थप्रबन्धन का दीर्घकालीन नियोजन है।"

2. आर.एम. लिच के अनुसार– "पूँजी बजटन में संस्था की दीर्घकालीन लाभप्रदता को अधिकतम करने के उद्देश्य से उपलब्ध पूँजी का नियोजन सम्मिलित है।"

पूँजी बजटन की आवश्यकता या पूँजी बजटन क्यों आवश्यक है– पूँजी सम्पत्तियों में विनियोग एक बहुत ही महत्वपूर्ण कठिन समस्या है। बजटन स्वयं में एक आवश्यक यन्त्र है, परन्तु पूँजी सम्पत्तियों के बजटन की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से और भी अधिक हो सकती है–

(1) धन का स्थायी विनियोग– पूँजी परियोजनाओं में विनियोग किया गया धन एक प्रकार से स्थायी रूप से ही विनियोजित हो जाता है। क्योंकि इन परियोजनाओं में से धन की

वापसी एक कार्य है और बिना हानि के धन की वापसी तो असम्भव ही है। अतः पूँजी परियोजनाओं में धन का विनियोग करने से पूर्व पूँजी बजटन कर लेना चाहिये।

(2) विशाल पैमाने पर विनियोग– पूँजी परियोजनाओं में विनियोग किया गया धन एक प्रकार से स्थायी रूप से ही विनियोजित हो जाता है, क्योंकि इन परियोजनाओं में से धन की वापसी एक कठिन कार्य है और विनियोजित धनराशि की विशालता के कारण परियोजनाओं में धन विनियोग करने से पूर्व पूँजी बजटन कर लेना चाहिये।

(3) दीर्घकालीन प्रभाव– पूँजी परियोजनायें व्यवसाय के आगामी कई वर्षों की अर्जनों को प्रभावित करती हैं; जैसे– श्रम के स्थान पर मशीन को प्रतिस्थापित करने से व्यवसाय की स्थिर लागतें बढ़ जाती हैं।

प्रश्न–(2) पूँजी बजटन का महत्व बताइये।

उत्तर– 1. **परियोजना में विशाल राशि का विनियोग**– वर्तमान समय में पूँजी बजटन का महत्व इसलिये भी अधिक है, कि जो पूँजी परियोजनायें तैयार की जाती हैं, उनमें विशाल धनराशि का विनियोग करना होता है, तथा, परियोजनाओं में धनराशि विनियोग करने के बाद उसकी वापसी एक कठिन कार्य है। इस कारण से पूँजी बजटन का एक व्यवसाय में काफी महत्व है।

2. **दीर्घकालीन प्रभाव**– पूँजी परियोजनाओं के हेतु लिये गये निर्णयों का प्रभाव आगामी अनेक वर्षों तक रहता है। इसलिये भी पूँजी बजटन का काफी महत्व है।

3. **उत्पादन सुगमताओं के संवर्द्धन की सम्भावनाओं का स्पष्टीकरण**– यह विक्रय बजट में दिखायी गई अतिरिक्त विक्रय राशि को पूरा करने के लिये उत्पादन सुगमताओं के संवर्द्धन की सम्भावनाओं को स्पष्ट करता है।

4. **तुलनात्मक स्थिति प्रकट करना**– यह नष्ट प्रायः या अप्रचलित सम्पत्तियों की पुनःसंस्थापना के लिये उपलब्ध विभिन्न वैकल्पिक सम्पत्तियों की तुलनात्मक स्थिति प्रकट करता है।

5. **आवश्यक अंक प्रदान करना**– यह रोकड़ बजट को पूरा करने के लिये आवश्यक अंक प्रदान करता है।

प्रश्न–(3) पूँजी परियोजनाओं के प्रकार बताइये।

उत्तर– (1) **पुनर्संस्थापन परियोजनायें**– प्रयोग से घिस जाने या बाजार में किसी आधुनिक मशीन के आ जाने से नयी मशीन की स्थापना की आवश्यकता होती है। नयी मशीनों के प्रयोग से संचालन व्यय में कमी तथा उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होती है। पुनः संस्थापन योजनाओं से उत्पादन की क्रियाओं में कोई भी परिवर्तन नहीं आता है। इन परियोजनाओं की वांछनीयता का निर्णय विनियोग से परिचालन लागतों में कमी के कारण होने वाली बचत तथा उत्पादन की अतिरिक्त मात्रा से प्राप्त लाभ के आधार पर किया जाता है। पूँजी बजटन या पूँजी व्यय निर्णय या पूँजी पर उपलब्धियों के लिये नियोजन।

(2) **संवर्द्धन योजनायें**– संवर्द्धन योजनाओं में नयी मशीन या इमारत का क्रय वर्तमान इमारतों में व मशीनों में विस्तार किसी अन्य व्यवसाय का विलीनीकरण एवं एक साथ बड़े पैमाने पर विज्ञापन शामिल है। इनका उद्देश्य उत्पादन क्षमता में वृद्धि या कभी-कभी तीव्र प्रतियोगिता भी होता है। ऐसी परियोजना की वांछनीयता का निर्णय विनियोग की लागत और इससे उत्पादित वस्तुओं से प्रत्याशित लाभ के आधार पर किया जाता है।

(3) **वस्तु या विधि में परिवर्तन**– इसमें वस्तु की किस्म में सुधार या विशा खन लाकर या उत्पादन की विधियों में परिवर्तन करके अतिरिक्त आय कमाने या लागत कम करने की

परियोजना सम्मिलित है। इसमें मानव को मशीनों से प्रतिस्थापित एवं स्वचालित मशीनों की स्थापना की जाती है।

(1) परिवर्द्धन योजनायें– परिवर्द्धन व योजनाओं में विभिन्न बाजारों में माल खपत बढ़ाने, नये बाजार प्राप्त करने या वस्तु की किस्म या स्वरूप में परिवर्द्धन करने से सम्बन्धित परियोजनाये सम्मिलित की जाती है। यह परियोजना भी संवर्द्धन परियोजनाओं का ही एक स्वरूप है, लेकिन इनमे विस्तार की गति संवर्द्धन परियोजनाओं की अपेक्षा धीमी होती है। इसमे परियोजना की लागत की तुलना लाभों से अनुमानित वृद्धि से की जाती है।

प्रश्न–(1) विनियोग निर्णयन से सम्बन्धित प्रमुख तत्व बताइये।

उत्तर– विनियोग निर्णयन से सम्बन्धित प्रमुख तत्व– विनियोग निर्णयन से सम्बन्धित प्रमुख तत्व निम्नलिखित है–

(1) व्यवसाय का प्रकृति– यदि व्यवसाय निर्माणी प्रकृति का है, तो पूँजी का अधिकांश भाग स्थायी सम्पत्तियों में विनियोजित किया जायेगा। जबकि, यदि व्यवसाय व्यापारिक प्रकृति का है तो पूँजी का अधिकांश विनियोग चल सम्पत्तियों में किया जायेगा।

(2) पूँजी की लागत– व्यावसायिक उपक्रम में विनियोग सम्बन्धी निर्णय लेते समय पूँजी की लागत को भी ध्यान में रखा जाता है। पूँजी विनियोग द्वारा कम से कम पूँजी की लागत से अधिक राशि तो अवश्य प्राप्त होनी ही चाहिये।

(3) व्यवसाय का आकार– प्रायः लघु व्यावसायिक उपक्रमों के विनियोग सम्बन्धी निर्णय सरल तथा बड़े व्यावसायिक उपक्रमों के विनियोग सम्बन्धी निर्णय जटिल होते हैं, इसलिये विनियोग निर्णयन पर व्यावसायिक उपक्रम के आकार का भी प्रभाव पड़ता है।

(4) स्थिर एवं चल सम्पत्तियों में विनियोग का अनुपात– व्यावसायिक उपक्रम में विनियोग सम्बन्धी निर्णय लेते समय वित्तीय प्रबन्धकों को इस बात पर भी विचार-विमर्श करना होता है कि स्थिर एवं चल सम्पत्तियों में क्या अनुपात रखा जाये? स्थिर एवं चल सम्पत्तियों के अनुकूल मिश्रण द्वारा ही व्यावसायिक उपक्रम अधिकतम आय उपार्जित कर सकता है।

(5) अधिकतम आय– उपक्रम को ऐसे साधनों में ही पूँजी विनियोजित करनी चाहिये, जिनसे अधिकतम आय प्राप्त हो सके।

प्रश्न–(5) विनियोजित पूँजी से क्या आशय है?

उत्तर– प्रत्येक व्यावसायिक संस्था का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना होता है और इस उद्देश्य के आधार पर संस्था की प्रगति एवं कार्यक्षमता की जांच की जा सकती है।

व्यावसायिक संस्था की कुशलता उसके द्वारा कमायी गई लाभ की मात्रा के आधार पर मापी जा सकती है। लाभ के आधार पर कुशलता की माप करने के लिये जिस सिद्धान्त का प्रयोग किया जाता है उसे विनियोजित पूँजी पर प्रत्याय के नाम से जाना जाता है। विनियोजित पूँजी पर प्रत्याय को समझने के लिये हम सबसे पहले विनियोजित पूँजी को समझना होगा।

विनियोजित पूँजी का अर्थ– इस शब्द का अर्थ प्रमुख रूप से निम्नलिखित तीन रूपों में लगाया जाता है–

1. कुल विनियोजित पूँजी– इसमें स्थायी तथा चल-सम्पत्तियों को सम्मिलित किया जाता है।

2. शुद्ध विनियोजित पूँजी– इसमें स्थायी तथा चल-सम्पत्तियों के जोड़ में से चल-दायित्वों को घटा दिया जाता है।
3. अंशधारियों की शुद्ध विनियोजित पूँजी– प्रत्याय का अर्थ– प्रत्याय से आशय संस्था द्वारा कमाये गये शुद्ध लाभ या आय से होता है। लाभ की अनेक परिभाषायें होती हैं, उदाहरणार्थ– साधारण व्यापारिक दृष्टिकोण से जो खाते तैयार किये जाते हैं उनके आधार पर निकाला गया लाभ उस लाभ से कम या अधिक हो सकता है जो आयकर की दृष्टि से निकाले जाते है।

इकाई-4

प्रश्न–1. पूँजी लागत की परिभाषा दीजिये। पूँजी की भारयुक्त औसत लागत को एक काल्पनिक उदाहरण देते हुये समझाइये।

अथवा

पूँजी लागत क्या है? इसकी अवधारणा को स्पष्ट कीजिये तथा विभिन्न प्रकार की पूँजी लागतों को समझाइये।

अथवा

पूँजी लागत से क्या आशय है? पूँजी लागत की अवधारणा का महत्व स्पष्ट कीजिये।

अथवा

'पूँजी की लागत' की अवधारणा की व्याख्या कीजिये।

अथवा

'पूँजी की लागत' की परिभाषा दीजिये। पूँजी लागत अवधारणा का महत्व समझाइये।

उत्तर– पूँजी लागत से आशय या अवधारणा– पूँजी की लागत का आशय उस मूल्य से है जो पूँजी के उपयोग के लिये चुकाया जाता है। यह वह न्यूनतम दर है जिसे पूँजी पर अर्जित करना प्रबन्धकों के लिये आवश्यक हो जाता है ताकि पूँजी के उपयोग के मूल्य तथा उससे सम्बद्ध अन्य व्ययों की पूर्ति होती रहे। यह लागत प्राप्त की गई पूँजी की खरीद राशि के प्रतिशत के रूप मे व्यक्त की जाती है।

उदाहरण– माना प्रबन्धकों द्वारा 5 हजार रुपये का ऋण 9 प्रतिशत ब्याज दर पर एक वर्ष के लिये प्राप्त किया जाता है तो पूँजी की लागत ज्ञात कीजिये।

हल– $$\text{पूँजी की लागत} = \frac{\text{देय ब्याज}}{\text{प्राप्त की गई खरीद राशि}} \times 100$$

$$= \frac{450 \times 100}{5,000} = 9\%$$

परिभाषायें– विभिन्न विद्वानों ने पूँजी लागत की अलग-अलग परिभाषायें दी हैं जिनमें से कुछ महत्वपूर्ण परिभाषायें निम्नलिखित है–

(1) प्रो. सोलेमन इजरा के अनुसार– "पूँजी लागत अर्जनों की न्यूनतम दर अथवा पूँजीगत व्ययों की कटौती दर है।"

(2) मिल्टन एच स्पेन्सर के अनुसार– "पूँजी की लागत वह न्यूनतम प्रत्याय दर होती है जिसे एक फर्म कोई विनियोग करने के लिये एक शर्त के रूप में मांग करती है।"

(3) जे.जे. हेम्पटन के अनुसार– "पूँजी की लागत प्रत्याय की उस दर को कहा जायेगा जिसे किसी निवेश पर फर्म इसलिये प्राप्त करना चाहती है ताकि बाजार में उस फर्म के मूल्य में वृद्धि हो सके।"

पूँजी लागत का महत्व– पूँजी बजटन में वैकल्पिक परियोजनाओं में सर्वश्रेष्ठ परियोजना का चयन करने के लिये पूँजी की लागत अवधारणा का महत्वपूर्ण स्थान है। वित्तीय प्रबन्ध के लिये पूँजी की लागत का महत्व निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है–

(1) **अतिरिक्त वित्त की आवश्यकता पर तुलनात्मक अध्ययन–** एक अच्छा वित्तीय प्रबन्धक पूँजी बाजार में होने वाले परिवर्तनों पर दृष्टि रखता है तथा विभिन्न प्रकार के ऋणों पर ब्याज दरों एवं अंश पूँजी पर चल रही सामान्य लाभांश दर आदि का विश्लेषण करता रहता है। उसे इससे यह लाभ होता है कि जब उस फर्म को अतिरिक्त वित्त की आवश्यकता होती है तो वह तुलनात्मक पूँजी लागत ज्ञात करके विभिन्न साधनों का तुलनात्मक अध्ययन करके एक श्रेष्ठ वित्तीय साधन का चयन कर सकता है।

(2) **विनियोग निर्णयों में सहायक–** पूँजी लागत का विचार विनियोग निर्णयों का आधार है। किसी भी विनियोग प्रस्ताव को तभी स्वीकार किया जायेगा जबकि उसको लाभप्रदता उसके लिये दी जाने वाली पूँजी लागत से अधिक है। पूँजी लागत को ध्यान में रखते हुये ही यदि विनियोग सम्बन्धी निर्णय लिया जाता है तो यह निर्णय सर्वोत्तम होता है।

(3) **विस्तार परियोजनाओं की वित्तीय सम्भावनाओं का अध्ययन–** विभिन्न वित्तीय स्त्रोतों की पूँजी लागत का अध्ययन करके प्रबन्ध एक श्रेष्ठ साधन का चयन कर सकता है जिस परियोजना के लिये वित्त की आवश्यकता है उसकी वित्तीय सम्भावनाओं का अध्ययन करके यह ज्ञात किया जा सकता है कि उस परियोजना से न्यूनतम आय हो सकेगी या नहीं। यदि आय की सम्भावना है तो प्रबन्धक को वह परियोजना स्वीकार कर लेनी चाहिये।

(4) **फर्म की पूँजी संरचना का नियोजन–** पूँजी लागत की अवधारणा फर्म की आदर्श पूँजी संरचना के नियोजन में भी सहायक होती है। पूँजी लागत पूँजी संरचना को प्रभावित करती है और स्वयं भी इससे प्रभावित होती है। पूँजी संरचना के नियोजन का दीर्घकालीन उद्देश्य पूँजी लागत को न्यूनतम करना और अंशों के बाजार मूल्य को अधिकतम करना होता है।

(5) **वित्तीय स्त्रोतों का तुलनात्मक अध्ययन–** वित्त प्रबन्धन के अनेक स्त्रोत हैं किसी समय विशेष पर किस साधन का उपयोग किया जाये इसका निर्णय वित्त प्रबन्धन के विभिन्न साधनों की लागत का तुलनात्मक अध्ययन करके लिया जा सकता है इनमें जिस साधन की पूँजी की लागत कम आती है, उसे चुना जा सकता है। यद्यपि पूँजी की लागत के आन्तरिक, स्वामित्व, नियंत्रण तथा जोखिम जैसे तत्वों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है।

(6) **कार्यशील पूँजी एवं लाभांश नीति में सहायक–** पूँजी लागत अवधारणा का उपयोग अनेक वित्तीय निर्णयों में सहायक होता है। इसके आधार पर ही कार्यशील पूँजी की मात्रा तथा उसके स्त्रोतों का चुनाव, लाभांश नीति आदि के बारे में निर्णय लिया जाता है।

पूँजी लागतों के प्रकार– पूँजी लागतें निम्न प्रकार की होती हैं–

(1) **ऋण पूँजी लागत–** प्रायः ऋण पूँजी की लागत इस पर देय ब्याज होती है और ऋण पूँजी के अन्तर्गत बट्टा, अभिगोपन, कमीशन, दलाली, छपाई व्यय आदि आते हैं। ऋण पूँजी की लागत निकालते समय ऋण पूँजी की प्राप्त शुद्ध राशि से प्रतिशत निकालना चाहिये।

शुद्ध राशि से आशय उस राशि से होता है जो ऋण प्राप्त करने वाले व्ययों को कम करने के बाद बाकी बचती है। ऋण पूँजी की लागत निम्न सूत्र द्वारा ज्ञात की जाती है–

$$C = \frac{\frac{i + MV - NP}{MP}}{\frac{NP + MV}{2}} \times 100$$

जहाँ– C = Cost of Borrowed Capital i = Contractual Rate of Interest
NP = Net proceeds MV = Maturity Value
MP = Maturity Period (in years)

उदाहरण– 14 प्रतिशत ब्याज वाले 10 वर्षीय ऋण-पत्रों को (जिसका अंकित मूल्य 100 रुपये प्रति ऋण-पत्र है) कम्पनी 95 रुपये प्रति ऋण-पत्र के निर्गमन मूल्य पर जारी करती है तथा यह मानते हुये कि कमीशन, दलाली आदि के कोई अन्य व्यय कम्पनी को वहन नहीं करने पड़ते हैं तो लागत ज्ञात कीजिये।

10 वर्षों की अवधि में 5 रुपये बट्टे का वार्षिक औसत 5– 10 अर्थात 0.5 रुपये हुआ जो 14 रुपये वार्षिक ब्याज में जोड़ दिया जायेगा व्यवसाय में उपयोग के लिये जो खरी पूँजी इस अवधि में उपलबध होगी वह औसत पूँजी होगी जो $\frac{95 + 100}{2} = 97.5$

हल–

$$C = \frac{\frac{i + MV - NP}{MP}}{\frac{NP + MV}{20}} \times 100$$

$$C = \frac{\frac{14 + (100 - 95)}{10}}{\frac{95 + 100}{2}} \times 100$$

$$C = \frac{\frac{14 + 5}{10}}{\frac{195}{2}} \times 100$$

$$C = 14.87\%$$

(Before Tax)

(2) **अधिमान्य अंश पूँजी की लागत–** अधिमान्य अंशों पर दिये जाने वाले लाभांश की दर का निश्चय इन अंशों को निर्गमित करते समय निश्चित कर दिया जाता है और ऐसे अंशों पर समता अंशों से पहले लाभांश का भुगतान किया जाता है। इन अंशों पर भुगतान किया जाने वाला लाभांश चूँकि आय कर की दृष्टि से एक स्वीकृत व्यय नहीं होता इसलिये अधिमान्य अंश पूँजी लागत आयकर के बाद ज्ञात की जाती है।

$$\text{Cost of Pref. Capital} = \frac{\text{Obligations incurred}}{\text{Net proceeds}} \times 100$$

(3) **इक्विटी अंश पूँजी लागत–** इक्विटी अंश पूँजी धारक ही कम्पनी के वास्तविक स्वामी माने जाते हैं तथा यह ही कम्पनी के जोखिम का वहन करते हैं। इसके साथ ही कम्पनी के लाभ या हानि में भी यह हिस्सा लेते हैं। इक्विटी अंश पूँजी का बाजार मूल्य इनके अंकित मूल्य से भिन्न होता है तथा इक्विटी अंश पूँजी मूल्य के ऊपर कम्पनी की ख्याति निर्भर करती है। यदि इक्विटी अंश का बाजार मूल्य अधिक है तो इससे कम्पनी की ख्याति बढ़ती है और यदि बाजार मूल्य कम है तो इससे कम्पनी की ख्याति घटेगी। इक्विटी अंश पूँजी लागत निम्न सूत्र द्वारा ज्ञात की जाती है–

$$Ce = \frac{EPS}{NP} \times 100$$

प्रतिधारित आय की लागत– कम्पनियाँ अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाये रखने के लिये अपनी आर्थिक आय को अपने अधिकारियों में न बाटकर धन का कुछ भाग अपने पास सचय के रूप मे रख लेती है, इस रखी गई राशि को ही प्रतिधारित आय कहा जाता है। प्रतिधारित आय की कुछ न कुछ लागत अवश्य होती है क्योंकि प्रतिधारित आय अंशधारियो की आय का भाग होती है। यदि वे उसे सस्था मे छोड़ते है तो इसका दूसरा अर्थ यह होता है कि अशधारियो की पूँजी सस्था मे लग जाती है अतः उन्हे इस पूँजी पर कुछ न कुछ आय अवश्य मिलनी चाहिये। अतः प्रतिधारित आय की लागत अवश्य होती है इस आय को निम्न सूत्र के द्वारा ज्ञात किया जा सकता है–

$$Cr = \frac{REPS\ (1 - Tax\ Rate)}{MP} \times 100$$

REPS = Retained Earning per share
MP = Market Price per share
Tax Rate = Average Tax Rate applicable to the Share holder

प्रश्न–2. पूँजी लागत का अर्थ बताइये तथा विभिन्न वित्तीय साधनों की पूँजी की लागत की विवेचना कीजिये।

अथवा

विभिन्न पूँजी साधनों की लागत का माप किस प्रकार किया जाता है? उदाहरणों की सहायता से समझाइये।

उत्तर– पूँजी लागत की धारणा एक महत्वपूर्ण धारणा है लेकिन इसका कोई निश्चित अर्थ नहीं है। इसलिये इसे हम निम्न परिभाषा के द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं।

मिल्टन एच. स्पेन्सर के शब्दो में, "पूँजी की लागत वह न्यूनतम प्रत्याय दर होती है, जिसे एक फर्म किसी विनियोग को करते समय एक शर्त के रूप में आवश्यक मानती है।"

एक व्यावसायिक फर्म अपनी आवश्यकता के लिये विभिन्न साधनो से पूँजी इकट्ठी कर सकती है। ये सभी साधन पूँजी के घटक कहलाते हैं। पूँजी के इन विभिन्न साधनों की फर्म के लिये अलग-अलग लागत होती है। पूँजी के विभिन्न साधनों की लागत की गणना निम्नलिखित प्रकार से की जा सकती है–

ऋण पूँजी की लागत– फर्म के लिये ऋण पूँजी का अर्थ सामान्यतः दीर्घकालीन ऋण पूँजी से होता है। फर्म यह पूँजी ऋण-पत्रों एवं बाण्डो के निर्गमन द्वारा प्राप्त करती है। सामान्यतया ऋण-पत्रों पर देय ब्याज ही ऋण पूँजी की लागत होती है, लेकिन ऋण पूँजी की सही लागत ज्ञात करने के लिये देय ब्याज दर का सम्बन्ध ऋण पूँजी के निर्गमन से प्राप्त शुद्ध राशि से स्थापित किया जाना चाहिये। ऋण पूँजी से प्राप्त शुद्ध राशि के लिये ऋण-पत्रों के मूल्य में से इनके निर्गमन की लागतें तथा कटौती को घटाया जाता है एवं प्रव्याजि को जोड़ दिया जाता है। इस प्रकार प्राप्त शुद्ध राशि के आधार पर पूँजी की लागत ज्ञात की जाती है।

ऋण शोधन अवधि के अनुसार दो प्रकार का हो सकता है, एक चिरस्थायी ऋण तथा दूसरा शोध्य ऋण। चिरस्थायी ऋण वह ऋण होता है जिसका संस्थान के जीवन काल में भुगतान नहीं किया जाता है, जबकि शोध्य ऋण वह ऋण होता है जिसका पूर्व निर्धारित अवधि के बाद भुगतान करना होता है। ऋण पूँजी की लागत इन दोनों प्रकार के ऋणों के सम्बन्ध में ज्ञात की जा सकती है।

(1) चिरस्थायी ऋण की लागत– चिरस्थायी ऋण की लागत आसानी से ज्ञात की जा सकती है। सदैव इस पर देय ब्याज की दर ही इसकी कर पूर्व की लागत होती है, लेकिन इस ब्याज दर का सम्बन्ध ऋण से प्राप्त शुद्ध राशि से स्थापित किया जाना चाहिये। ऋण की प्रभावी लागत ज्ञात करने के लिये कर पूर्व लागत को कर बाद लागत या कर रहित लागत में बदलना चाहिये। चिरस्थायी ऋण की कर से पहले लागत निम्न सूत्र के द्वारा ज्ञात की जा सकती है–

$$Kd = \frac{I}{NP} \times 100$$

Where Kd = Cast of debt I = Annual Interest charges
NP = Net Proceeds

कर रहित लागत को निम्न सूत्र के द्वारा ज्ञात किया जा सकता है–

$$Kd = \frac{I}{NP} \times 100\ (1-t)$$

t = Rate of Tax

कर के पूर्व लागत को तथा कर के बाद लागत को निम्न उदाहरण के द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं–

ऋणपत्र का निर्गमन 10% प्रव्याजि पर–

(i) कर के पूर्व ऋण पूँजी की लागत $Kd = \frac{I}{NP} \times 100$

$$= \frac{Rs.\ 10,000}{Rs.\ 92,500} \times 100 = 10.81\ \%$$

(ii) कर पश्चात् ऋण पूँजी की लागत $Kd = \frac{I}{NP} \times 100\ (1-t)$

$$= \frac{Rs.\ 10,000}{Rs.\ 92,500} \times 100\ (1-.5) = 10.81\ (.5)$$

$$= 5.405\%$$

Working Notes –

Calculation of Net Proceeds		
force value of the Debentures		Rs. 1,00,000
Add : 10% Premium		10,000
		1,10,000
Less: Issue Expenses	Rs.	
(a) Under Writing Commission	2,000	
(b) Brokerage	500	
(c) Printing and other Expenses	15,000	17,500
		92,500

(ii) शोधनीय ऋण की लागत– शोधनीय ऋणो की लागत ज्ञात करते समय देय ब्याज के साथ शोधन के समय चुकाये जाने वाले मूलधन पर भी विचार किया जाता है। शोधनीय ऋणो

का भुगतान नियत तिथि पर एक साथ करने पर इसकी लागत की गणना निम्न सूत्र की सहायता से की जाती है–

$$Kd = \frac{I + (RV - NP)/n}{(RV \times NP)/2} \times 100$$

Where Kd = Cost of debt capital before tax
I = Interest Charges
NP = Net Proceeds
RV = Redeemable or Payable Value of the debt at the time of Maturity
n = Number of Years to maturity

कर के पश्चात् लागत ज्ञात करने के लिये कर दर से समायोजन कर दिया जाता है, अर्थात् कर पूर्व जो दर आती है उसे (1 – t) से गुणा करके कर बाद की दर ज्ञात कर ली जाती है। इसे हम निम्न उदाहरण के द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं–

A Company issue 1,000 debentures (10%) of Rs. 100 each at 10% Premium, Redeemable at par after five years. The Company's tax rate is 50% Determine the Cost of debt.

(1) कर पूर्व ऋण पूँजी की लागत–

$$Kd = \frac{I + (RV - NP)/n}{(RV + NP)/2} \times 100$$

$$= \frac{10,000 + (10,0000 - 1,10,000)/5}{(1,00,000 + 1,10,000)/2} \times 100$$

$$= \frac{10,000 - 2,000}{1,050} = \frac{8,000}{1,050} = 7.62\% \text{ approx}$$

(2) कर पश्चात् ऋण पूँजी की लागत–

Kd = कर पूर्व ऋण पूँजी की लागत (1 – t)
= 7.62 (1 – 5) = 3.81%

प्रश्न–3. पूर्वाधिकार अंश पूँजी की लागत को सूत्र के द्वारा समझाइये।
अथवा
पूर्वाधिकार अंश पूँजी की लागत की माप किस प्रकार की जाती है? उचित उदाहरण के द्वारा समझाइये।

उत्तर– पूर्वाधिकार अंशों के निर्गमन से कम्पनी अपनी पूँजी प्राप्त कर सकती है। पूर्वाधिकार अंशों पर दी जाने वाली लाभांशों की दर इनके निर्गमन के समय ही निश्चित कर दी जाती है, इसलिये पूर्वाधिकार अंश स्थायी लागत वाली प्रतिभूतियाँ होती हैं। इन अंशों पर देय लाभांश आयकर अथवा निगम कर के लिये स्वीकार्य व्यय नहीं होता है। इसलिये पूर्वाधिकार अंश पूँजी की कर बाद की लागत होती है जिसे कर पूर्व की लागत में परिवर्तित किया जा सकता है। पूर्वाधिकार अंश पूँजी की लागत निकालने के लिये देय लाभांश में प्रति अंश प्राप्त शुद्ध राशि का भाग देकर 100 से गुणा किया जाता है, जिससे पूँजी की लागत वार्षिक प्रतिशत दर के रूप में ज्ञात हो जाती है। इसे बीज गणितीय सूत्र के रूप में निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है–

$$KP = \frac{DPS}{NP} \times 100$$

Where KP = Cost of Preference Capital
DPS = Dividend per Share NP = Net Proceeds

पूर्वाधिकार अंश पूँजी की लागत को हम निम्न उदाहरण के द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं–

Seeta Ltd. issued 1,000 – 10% Preference Shares of Rs. 100 Each Cost of issue is Rs. 3 Per Shares. Calculate Cost of Preference Share Capital if these Shares are issued. (i) at Per value (ii) at 5% Discount, and (iii) at 10% Premuim Corporate tax rate is 50%

(i) Cost of Preference Share Capital if Shares are issud at Par Value.

$$KP \text{ (after tax)} = \frac{DPS}{NP} \times 100$$

Here DPS = 10% NP = Rs. 97
Putting these Values, We get

$$KP \text{ (after tax)} = \frac{10}{97} \times 100 = 10.309\%$$

इसे कर पूर्व भी ज्ञात किया जा सकता है। इसके लिये निम्न सूत्र का प्रयोग किया जाता है–

$$KP \text{ (before tax)} = KP \text{ (after tax)} \left(\frac{1}{1 - \text{tax rate}}\right)$$

$$= 10.309 \left(\frac{1}{1 - 50\%}\right) = 10.309 \times 2$$

$$= 20.618\%$$

KP (after tax) = 10.309%
KP (before tax) = 20.618%

(ii) Cost of Preference Share Capital if Shares are issued at 5% discount–

$$KP \text{ (after tax)} = \frac{10}{100 - 5.3} \times 100$$

$$= \frac{1,000}{92} = 10.869\%$$

$$KP \text{ (before tax)} = 10.869 \left(\frac{1}{1 - 50}\right)$$

$$= 10.869 \times 2 = 21.738\%$$

(iii) Cost of Preference Share Captial if Shares are issued at 10% Premium.

$$KP \text{ (after tax)} = \frac{10}{100 + 10 - 3} \times 100 = 9.346\%$$

$$KP \text{ (before tax)} = 9.346 \left(\frac{1}{1-50}\right) = 18.692\%$$

प्रश्न–4. प्रतिधारित लाभ की लागत को समझाइये। इसकी गणना किस प्रकार की जाती है?
अथवा
समता अंश पूँजी लागत को समझाइये। इसे मापने की प्रमुख विधियाँ समझाइये।
अथवा
समता अंश पूँजी लागत एवं प्रतिधारित लाभ की लागत की विवेचना कीजिये।
अथवा

समता अंश पूँजी की लागत एवं प्रतिधारित लाभ की लागतों की गणना कैसे की जाती है? इनकी उपार्जन की सीमायें भी बताइये।

उत्तर– समता अंश पूँजी की लागत को ज्ञात करना बहुत कठिन है, क्योंकि समता अंशो पर देय लाभांश की दर पूर्व निश्चित नही होती है तथा इन पर लाभांश देना जरूरी नही होता है। समता अंश पूँजी लागत रहित पूँजी नही होती है। हर समता अंशधारी अपनी कम्पनी से कुछ न कुछ प्रत्याय की अवश्य आशा करता है। यह आशान्वित प्रत्याय ही समता अंश पूँजी की लागत कहलाती है। समता अंश पूँजी की लागत ज्ञात करने के लिये अनेक विधियों का प्रयोग किया जाता है। जिनमे से कुछ प्रमुख विधियाँ निम्नलिखित है–

(1) लाभांश प्राप्ति विधि– इसे लाभांश या मूल्य अनुपात विधि भी कहते है। यह विधि इस मान्यता पर आधारित है कि जब एक विनियोक्ता किसी कम्पनी के अंशो में अपनी बचतों को विनियोजित करता है तो कम से कम बाजार में प्रचलित प्रत्याय के बराबर उसे भुगतान अवश्य प्राप्त होता है। इसलिये इन अंशो की लागत ज्ञात करने के लिये प्राप्त लाभांश को अंश के बाजार मूल्य से पूंजीकृत किया जाता है। इसे निम्नलिखित सूत्र से ज्ञात किया जाता है–

$$KE = \frac{DPS}{MP} \times 100$$

Where
KE = Cost Equity Share Capital
DPS = Current Rate of dividend per share
MP = Market Price Per share

सीमायें– लाभांश प्राप्ति विधि की अनेक सीमायें है, जिनमे प्रमुख निम्नलिखित है–

(i) इस विधि में प्रतिधारित अर्जनों के उपयोग से कमाये जाने वाले लाभों की उपेक्षा की जाती है, जबकि इनके उपयोग से अंशों पर लाभांश तथा उनका बाजार मूल्य बढ़ता है।

(ii) यह विधि लाभांशों में वृद्धि पर कोई ध्यान नहीं देती है।

(2) उपार्जन प्राप्ति विधि– इसे उपार्जन या मूल्य अनुपात विधि भी कहते है। यह विधि इस मान्यता पर आधारित है कि अंशों का बाजार मूल्य विनियोजित पूँजी के विनियोग मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है। इसलिये इस विधि में प्रति अंश अर्जनों का अंश बाजार मूल्य से सम्बन्ध स्थापित करके समता अंश पूंजी की लागत ज्ञात की जाती है। इसे निम्नलिखित सूत्र के द्वारा ज्ञात किया जा सकता है–

$$KE = \frac{EPS}{mp} \times 100$$

Where KE = Cost of Equity Share Capital
EPS = Earning per share MP = Market price per share

सीमायें– उपार्जन प्राप्ति विधि की निम्नलिखित सीमायें है–

(i) अंशो पर वास्तविक अर्जन की राशि ज्ञात करना बहुत ही कठिन है, क्योंकि कम्पनी की सभी अर्जन लाभ के रूप में वितरित करने के लिये नही होती है।

(ii) प्रति अंश अर्जन राशि विभिन्न वर्षों में स्थिर नही रहती है, जबकि इस विधि में इसकी स्थिरता पर जोर दिया जाता है।

(iii) समता अंशो का बाजार मूल्य स्थिर नहीं रहता है। यह परिवर्तित होता रहता है।

(3) लाभांश प्राप्ति तथा लाभांश में वृद्धि विधि– इस विधि को लाभांश या मूल्य + लाभांश में वृद्धि दर विधि भी कहते है। यह विधि इस मान्यता पर आधारित है कि समता अंशधारी केवल वर्तमान लाभांश दर से ही सन्तुष्ट नहीं होता है, बल्कि वह उसमें हर वर्ष वृद्धि की

आशा करता है और यदि ऐसा नहीं होता है तो कोई भी व्यक्ति समता अंशों में विनियोग नहीं करेगा। इस विधि में समता अंश पूँजी की लागत कम्पनी की वर्तमान लाभांश दर से भावी वृद्धि का समायोजन करके ज्ञात की जाती है।

(4) वसूली गई प्राप्ति विधि– कुछ वित्तीय प्रबंध विशेषज्ञों का यह मानना है कि न तो अंशों की भावी अर्जन राशि तथा न ही अंशों का भावी मूल्य सही प्रकार से ज्ञात किया जा सकता है। इसलिये समता अंश पूँजी की लागत की गणना के लिये अंशधारियों द्वारा विगत कुछ वर्षों में प्राप्त किये गये लाभांश की दरों का प्रयोग समता अंश पूँजी की लागत ज्ञात करने के लिये किया जाना चाहिये। इस विधि के अनुसार पिछले वर्षों की लाभांश दरों की औसत को भावी परिणामों का शुद्ध सकेतांक माना जाता है।

व्यावसायिक कम्पनियां अपनी सभी अर्जित आय को अंशधारियों में लाभांश के रूप में वितरित नही करती है बल्कि उसका एक भाग कोषों के रूप में रोक कर रख लेती है। इन कोषों का प्रयोग कम्पनी अपने विकास के कार्यों के लिये कर सकती है। ये कोष कम्पनी के लिये लागत रहित नही होते है। कुछ व्यक्तियों की यह एक गलत मान्यता है कि ये साधन लागत रहित होते है, क्योंकि इन साधनों की भी लागत होती है। इन साधनों की लागत इस आधार पर ज्ञात की जाती है कि यदि संस्था इन कोषों को रोक कर नहीं रखती तो वह अंशधारियों को वितरित कर देती है। अंशधारी उसे किसी कार्य मे विनियोजित करके उससे लाभ प्राप्त करते है। लेकिन कम्पनी द्वारा रोक लिये जाने पर अंशधारी उसे वैकल्पिक प्रयोग में लाने से वंचित हो जाते है। इसलिये इस अवसर से प्राप्त होने वाली संभव आय ही प्रतिधारित पूँजी की लागत होती है। इसमें अंशधारी पर लागू होने वाले व्यक्तिगत आयकर एवं पूँजी कर का समायोजन करके ही प्रतिधारित लाभों की लागत ज्ञात करनी चाहिये। इसकी गणना को ज्ञात करने में निम्नलिखित सूत्र का प्रयोग किया जाता है–

$$Kr = \frac{(1 - ti)DPS}{(1 - tc)\ mp} \times 100$$

Where, kr = Cost of Retained earnings
ti = Income tax rate of individual share holder
tc = Capital gain tax rate applicable to the individual share holder
Dps = Dividend Per share which wolud be distributed as an alternative to retained earnings.
mp = Market price of a Share

प्रश्न–5. बाजार मूल्यों के आधार पर पूँजी की औसत भारयुक्त लागत को समझाइये।

अथवा

पूँजी की औसत भारयुक्त लागत की विवेचना कीजिये।

अथवा

भारित पूँजी की लागत को समझाइये।

उत्तर– पूँजी के विभिन्न साधनों की लागत समान नही होती है। कुछ साधन मंहगे तथा कुछ साधन सस्ते होते है। प्रबंधक व्यवसाय में केवल सस्ते साधनों के बल पर ही पूँजी की व्यवस्था नहीं कर सकते है, क्योंकि ऋण पूँजी सबसे सस्ता साधन है और यदि कोई कम्पनी थोड़ी सी अंश पूँजी रखकर शेष आवश्यकताओं की पूर्ति ऋण पूँजी से ही करना चाहे तो एक सीमा तक ही संभव हो सकता है। प्रत्येक अनुपाती ऋण से जोखिम बढ़ता जायेगा और उत्तरोत्तर अधिक ब्याज देकर ही कम्पनी आगे अतिरिक्त ऋण पूँजी प्राप्त कर सकेगी। लेकिन आगे जाकर ऐसी स्थिति भी आ सकती है, जब आय की तुलना में ब्याज सम्बन्धी दायित्वों का भार अधिक प्रतीत होने लगेगा। इसलिये व्यवहार मे कम्पनी के पूँजी-ढाँचे में वित्त-प्राप्ति के

एक से अधिक साधनों का समावेश आवश्यक हो जाता है। यदि विभिन्न साधनों से उपलब्ध पूँजी की औसत संयुक्त लागत ज्ञात कर ली जाये तो इससे भविष्य में अतिरिक्त वित्त पूर्ति के साधन के बारे में निर्णय लेना सरल हो जायेगा। कम्पनी द्वारा विभिन्न साधनों से उपलब्ध पूँजी की औसत भारयुक्त लागत निम्न उदाहरण के द्वारा स्पष्ट की जा सकती है।

कम्पनी का एक करोड़ रुपये का पूँजी-ढाँचा इस तरह से है-

पूँजी साधन	धनराशि (रुपयों में)
(1) सौ-सौ रुपये के बीस हजार ऋणपत्र (प्रथम निर्गमन) अनुबंधित ब्याज दर छः प्रतिशत	20,00,000
(2) सौ-सौ रुपये मूल्य के दस हजार ऋणपत्र (द्वितीय निर्गमन) अनुबंधित ब्याज दर सात प्रतिशत	10,00,000
(3) सौ-सौ रुपये मूल्य के बीस हजार संचयी अधिमान अंश निर्धारित लाभांश दर आठ प्रतिशत	20,00,000
(4) चालीस हजार इक्विटी अंश प्रति अंश सम-मूल्य सौ रुपये	40,00,000
(5) प्रतिधारित आय	10,00,000
कुल पूँजीकरण	1,00,00,000

पूँजी की औसत भारयुक्त लागत में निम्नलिखित दो तथ्यों को ज्ञात करना पड़ता है-

(1) साधनों के लिये प्रयुक्त भार- सबसे पहले यह प्रश्न सामने आता है कि वित्त के किस साधन को कितना भार प्रदान किया जाये? यह भार प्रत्येक साधन के लेख-मूल्य अथवा बाजार मूल्य के आधार पर प्रदान किया जा सकता है। अधिकतर पूँजी ढांचे में विभिन्न साधनों के पारस्परिक अनुपात के आधार पर वित्त के प्रत्येक साधन को भारयुक्त किया जाता है। इस आधार पर विभिन्न साधनों को निम्नलिखित प्रकार से भारयुक्त किया जायेगा-

पूँजी साधन	धनराशि (लाख रुपये)	प्रदत्त भार
ऋणपत्र (प्रथम निर्गमन)	20	.2
ऋणपत्र (द्वितीय निर्गमन)	10	.1
प्रिफरेन्स अंश पूँजी	20	.2
इक्विटी अंश पूँजी	40	.4
प्रतिधारित आय	10	.1
	100	1.0

(2) प्रत्येक साधन की पृथक लागत- इसके लिये पूँजी के विभिन्न साधनों की कर रहित लागत या कर सहित लागत में से किसी एक का चुनाव करना होगा। इसे निम्नलिखित तालिका के द्वारा कर सहित लागत को स्पष्ट किया जा सकता है-

वित्त साधन	लागत
ऋणपत्र (प्रथम निर्गमन)	3.0
ऋणपत्र (द्वितीय निर्गमन)	3.5
प्रिफरेन्स अंश पूँजी	8.0
इक्विटी अंश पूँजी	12.0
प्रतिधारित आय	9.0

प्रत्येक साधन के विषय में प्रदान किये जाने वाले भार तथा लागत को ज्ञात करने के बाद, प्रत्येक लागत को उसके भार से गुणा करके भारयुक्त लागत ज्ञात की जाती है। इन भारयुक्त लागतों का जोड़ ही पूँजी की औसत लागत का प्रतीक होता है।

औसत भारयुक्त लागत

पूँजी का साधन	कर रहित लागत	भार	भारयुक्त लागत
ऋणपत्र (प्रथम निर्गमन)	3.0	.2	0.60
ऋणपत्र (द्वितीय निर्गमन)	3.5	.1	0.35
प्रिफरेन्स अंश पूँजी	8.0	.2	1.60
इक्विटी अंश पूँजी	12.0	.4	4.80
प्रतिधारित आय	9.0	.1	0.90
पूँजी की औसत भारयुक्त लागत			8.25%

इस प्रकार उपर्युक्त कम्पनी में मंहगे एवं सस्ते समस्त पूँजी-साधनों की औसत भारयुक्त लागत 8.25 प्रतिशत है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसी नवीन परियोजना में पूँजी का निवेश करने से पहले प्रबन्धकों को यह देखना होगा कि पूँजी निवेश से उपार्जित प्रत्याय की दर 8.25 प्रतिशत से अधिक होगी। यदि वास्तविक पूँजी निवेश से सम्भावित लाभ की दर 8.25% या इससे कम है तो ऐसे प्रस्ताव कम्पनी के लिये लाभदायक नहीं होंगे। इसलिये पूँजी की औसत भारयुक्त लागत एक ऐसा काट बिन्दु है जो पूँजी निवेश के अनेक नवीन वैकल्पिक प्रस्तावों में से कम्पनी के लिये लाभदायक प्रस्तावों का अधिमान्यता के क्रम में चयन करने में प्रबन्धकों का मार्गदर्शन करता है। इस प्रकार औसत भारयुक्त लागत का सिद्धान्त आधुनिक युग में वित्तीय प्रबन्ध की एक महत्वपूर्ण विचारधारा है जिसके आधार पर कम्पनी के प्रबंधक अधिकतम लाभोपार्जन एवं अन्ततोगत्वा कम्पनी के इक्विटी अंशधारियों के अंशों के बाजार-मूल्यों में अधिकतम वृद्धि के उद्देश्यों की पूर्ति करने में सफल हो सकते हैं।

औसत भारयुक्त लागत ज्ञात करने के लिये पूँजी ढाँचे के विभिन्न साधनों के लेख-मूल्यों तथा उनकी लागतों की वास्तविक दरों को आधार माना गया, लेकिन कुछ विद्वानों का विचार है कि इसके लिये पूँजी-साधनों के बाजार मूल्यों तथा उनकी बाजार फील्ड्स को आधार माना जाना चाहिये। इसके अलावा निम्नलिखित सूचनायें उपलब्ध होती हैं-

(1) बाजार में कम्पनी के इक्विटी अंशों का मूल्य 160 रुपये प्रति अंश, प्रीफरेन्स शेयर्स का मूल्य 80 रुपये प्रति अंश, बॉण्डों का मूल्य 80 रुपये प्रति बॉण्ड तथा परिवर्तनीय ऋणपत्रों का मूल्य 120 रुपये प्रति ऋणपत्र है।

(2) कम्पनी की प्रति अंश आय (E.P.S.) 20 रुपये है।

(3) कम्पनी 50 प्रतिशत की दर से कर चुकाती है।

बाजार मूल्यों तथा बाजार यील्ड्स को आधार मानते हुये कम्पनी के लिये सर्भा पूँजी की भारयुक्त औसत लागत इस प्रकार ज्ञात की जा सकती है।

Weighted Average Cost of Capital
(Based on Market value and market yields)

Source of Capital	Market Values (Rupees in lakhs)	Wieghtased on mr's	Cost of Capital (After tax)	
			Market yeilds (Per cent)	Weighted cost (Percent)
Equity or Owned Capital	64	0.64	12.50	8.0
Preference Capital	16	0.16	12.50	2.3
Bonds	8	0.08	6.25	0.5
Convertible Debentures	12	.12	5.00	0.6
	100	1.00	–	11.1

इस प्रकार उपर्युक्त कम्पनी के लिये बाजार मूल्यों एवं बाजार यील्ड्स के अनुसार पूँजी की भारयुक्त औसत लागत 11.1% है। यह वह काट बिन्दु है जो पूँजी विनियोग के नवीन प्रस्तावों के विषय में निर्णय लेते समय कम्पनियों के प्रबन्धकों का मार्गदर्शन करता है। कुछ विद्वान का मत है कि पूँजी के प्रत्येक साधन के बाजार मूल्य तथा उन पर प्राप्त प्रत्याय की दरें पूँजी निवेशक की अपेक्षाओं का सही प्रतिनिधित्व करते हैं। इसलिये लेख मूल्यों तथा वास्तविक दरों के स्थान पर बाजार मूल्यों एवं बाजार दरों को आधार मानकर किसी कम्पनी की कुल पूँजी की भारयुक्त औसत लागत ज्ञात करना अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है।

प्रश्न–6. समता अंश पूँजी लागत को समझाइये। इसकी माप कैसे की जाती है? प्रमुख विधियों के द्वारा समझाइये।

अथवा

प्रतिधारित लाभ की लागत को समझाइये। इसकी गणना किस प्रकार की जाती है?

अथवा

समता अंश पूँजी लागत एवं प्रतिधारित लाभ की लागत की विवेचना कीजिये।

अथवा

समता अंश पूँजी की लागत एवं प्रतिधारित लाभ की लागतों की गणना कैसे की जाती है? तथा इनकी उपार्जन की सीमायें भी बताइये।

उत्तर– समता अंश पूँजी की लागत को ज्ञात करना बहुत कठिन है, क्योंकि समता अंशों पर देय लाभांश की दर पूर्व निश्चित नही होती है तथा इन पर लाभांश देना जरूरी नहीं होता है। समता अंश पूँजी लागत रहित पूँजी नही होती है। हर समता अंशधारी अपनी कम्पनी से कुछ न कुछ प्रत्याय की अवश्य आशा करता है। यह आशान्वित प्रत्याय ही समता अंश पूँजी की लागत कहलाती है। समता अंश पूँजी की लागत ज्ञात करने के लिये अनेक विधियों का प्रयोग किया जाता है, जिनमें से कुछ प्रमुख विधियाँ निम्नलिखित हैं–

(1) लाभांश प्राप्ति विधि– इसे लाभांश या मूल्य अनुपात विधि भी कहते हैं। यह विधि इस मान्यता पर आधारित है कि जब एक विनियोक्ता किसी कम्पनी के अंशों में अपनी बचतों को विनियोजित करता है तो कम से कम बाजार में प्रचलित प्रत्याय के बराबर उसे भुगतान अवश्य प्राप्त होता है। इसलिये इन अंशों की लागत ज्ञात करने के लिये प्राप्त लाभांश को अंश के बाजार मूल्य से पूँजीकृत किया जाता है। इसे निम्नलिखित सूत्र से ज्ञात किया जाता है–

$$KE = \frac{DPS}{MP} \times 100$$

Where
KE = Cost Equity Share Capital
DPS = Current Rate of dividend per share
MP = Market Price Per share

सीमायें– लाभांश प्राप्ति विधि की अनेक सीमायें हैं, जिनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं–

(i) इस विधि में प्रतिधारित अर्जनों के उपयोग से कमाये जाने वाले लाभों की उपेक्षा की जाती है, जबकि इनके उपयोग से अंशों पर लाभांश तथा उनका बाजार मूल्य बढ़ता है।

(ii) यह विधि लाभांशों में वृद्धि पर कोई ध्यान नहीं देती है।

(2) उपार्जन प्राप्ति विधि– इसे उपार्जन या मूल्य अनुपात विधि भी कहते हैं। यह विधि इस मान्यता पर आधारित है कि अंशों का बाजार मूल्य विनियोजित पूँजी के विनियोग मूल्य का प्रतिनिधित्व करता है। इसलिये इस विधि में प्रति अंश अर्जनों का अंश बाजार मूल्य से

सम्बन्ध स्थापित करके समता अंश पूंजी की लागत ज्ञात की जाती है। इसे निम्नलिखित सूत्र के द्वारा ज्ञात किया जा सकता है–

$$KE = \frac{EPS}{mp} \times 100$$

Where
KE = Cost of Equity Share Capital
EPS = Earning per share
MP = Market price per share

सीमायें– उपार्जन प्राप्ति विधि की निम्नलिखित सीमायें हैं–

(i) अंशों पर वास्तविक अर्जन की राशि ज्ञात करना बहुत ही कठिन है, क्योंकि कम्पनी की सभी अर्जन लाभ के रूप में वितरित करने के लिये नहीं होती है।

(ii) प्रति अंश अर्जन राशि विभिन्न वर्षों में स्थिर नहीं रहती है, जबकि इस विधि में इसकी स्थिरता पर जोर दिया जाता है।

(iii) समता अंशों का बाजार मूल्य स्थिर नहीं रहता है। यह परिवर्तित होता रहता है।

(3) लाभांश प्राप्ति तथा लाभांश में वृद्धि विधि– इस विधि को लाभांश या मूल्य + लाभांश में वृद्धि दर विधि भी कहते हैं। यह विधि इस मान्यता पर आधारित है कि समता अंशधारी केवल वर्तमान लाभांश दर से ही सन्तुष्ट नहीं होता है, बल्कि वह उसमें हर वर्ष वृद्धि की आशा करता है और यदि ऐसा नहीं होता है तो कोई भी व्यक्ति समता अंशों में विनियोग नहीं करेगा। इस विधि में समता अंश पूँजी की लागत कम्पनी की वर्तमान लाभांश दर से भावी वृद्धि का समायोजन करके ज्ञात की जाती है।

(4) वसूली गई प्राप्ति विधि– कुछ वित्तीय प्रबंध विशेषज्ञों का यह मानना है कि न तो अंशों की भावी अर्जन राशि तथा न ही अंशों का भावी मूल्य सही प्रकार से ज्ञात किया जा सकता है। इसलिये समता अंश पूँजी की लागत की गणना के लिये अंशधारियों द्वारा विगत कुछ वर्षों में प्राप्त किये गये लाभांश की दरों का प्रयोग समता अंश पूँजी की लागत ज्ञात करने के लिये किया जाना चाहिये। इस विधि के अनुसार पिछले वर्षों की लाभांश दरों की औसत को भावी परिणामों का शुद्ध सकेतांक माना जाता है।

व्यावसायिक कम्पनियाँ अपनी सभी अर्जित आय को अंशधारियों में लाभांश के रूप में वितरित नहीं करती हैं बल्कि उसका एक भाग कोषों के रूप में रोक कर रख लेती है। इन कोषों का प्रयोग कम्पनी अपने विकास के कार्यों के लिये कर सकती है। ये कोष कम्पनी के लिये लागत रहित नहीं होते है। कुछ व्यक्तियों की यह एक गलत मान्यता है कि ये साधन लागत रहित होते हैं, क्योंकि इन साधनों की भी लागत होती है। इन साधनों की लागत इस आधार पर ज्ञात की जाती है कि यदि संस्था इन कोषों को रोक कर नही रखती तो वह अंशधारियों को वितरित कर देती है। अंशधारी उसे किसी कार्य में विनियोजित करके उससे लाभ प्राप्त करते हैं। लेकिन कम्पनी द्वारा रोक लिये जाने पर अंशधारी उसे वैकल्पिक प्रयोग में लाने से वंचित हो जाते है। इसलिये इस अवसर से प्राप्त होने वाली संभव आय ही प्रतिधारित पूँजी की लागत होती है। इसमें अंशधारी पर लागू होने वाले व्यक्तिगत आयकर एवं पूँजी कर का समायोजन करके ही प्रतिधारित लाभों की लागत ज्ञात करनी चाहिये। इसकी गणना को ज्ञात करने में निम्नलिखित सूत्र का प्रयोग किया जाता है–

$$Kr = \frac{(1 - ti)DPS}{(1 - tc)\ mp} \times 100$$

Where, kr = Cost of Retained earnings
ti = Income tax rate of individual share holder

tc = Capital gain tax rate applicable to the individual share holder
Dps = Dividend Per share which wolud be distributed as an alternative to retained earnings.
mp = Market price of a Share

प्रश्न–7. फेक्टरिंग सेवाओं से आप क्या समझते हैं? फेक्टरिंग सेवाओं से ग्राहकों को क्या लाभ मिलता है? समझाइये।

अथवा

फेक्टरिंग सेवायें क्या हैं? फेक्टरिंग सेवाओं के प्रकारों को समझाइये।

अथवा

भारत में फेक्टरिंग सेवाओं की सिफारिशों की विवेचना कीजिये।

उत्तर– राष्ट्रीयकरण के विभिन्न उद्देश्यों को प्राप्त करने तथा विकास सम्बन्धी अपनी भूमिका को निभाने के लिये बैंकिंग उद्योग ने नई-नई योजनायें बनाने के लिये सक्रिय प्रयास किये है। बैंकों का प्रमुख कार्य एक ओर तो बुनियादी संरचना का विकास करना है, तथा दूसरी ओर ऋण तथा अन्य आवश्यक साधन उपलब्ध कराना है।

सामाजिक बैंकिंग के अन्तर्गत एक वृहत्तर सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति तथा राष्ट्रीय प्राथमिकताओं एवं लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये बैंकों ने अपने कोषों को समाज के कमजोर वर्गों को अधिकाधिक उन्नति के लिये उचित दरों पर उपलब्ध कराया है, इससे बैंकों की लाभप्रदता प्रभावित हुई है। अतः बैंकों ने अपनी लाभप्रदता में सुधार करने के लिये व्यापार बैंकिंग, लीजिंग, जोखिम पूँजी प्रबन्ध, पारस्परिक निधियाँ, आवासन, क्रेडिट कार्ड, उपभोक्ता ऋण, फेक्टरिंग आदि अनेक प्रकार की सेवायें देना आरम्भ किया है। इन कार्यों को करने के लिये कुछ बैंकों ने विशिष्ट प्रकार की सहयोगी संस्थायें खोली हैं, तथा कुछ अन्य बैंकों ने विशिष्ट प्रकार की शाखायें खोली है।

फेक्टरिंग सेवाओं से आशय– फेक्टरिंग का अर्थ है, बनाना या करना अर्थात् काम कराने से है। इस विधि के अन्तर्गत पहले दलाल विपणन, प्रशासन तथा वित्त से सम्बन्धित सेवायें उपलब्ध कराते थे, लेकिन वर्तमान वैज्ञानिक परिवेश में उन्नत संचार एवं यातायात सुविधाओं की उपलब्धता के कारण ये लोग प्राप्य राशि खाते की खरीद और सलाह तथा वित्तीय सेवाओं सहित ऋण और वसूली सुविधायें भी प्रदान कर रहे हैं।

फेक्टरिंग सेवा के अन्तर्गत फेक्टर अपने ग्राहक की ओर से ऋण की वसूली करता है, तथा प्राप्य राशियों के आधार पर ग्राहक को वित्त प्रदान करता है। सामान्यतः ऋणों को फेक्टर के नाम में सम अनुर्देशित कर दिया जाता है, जिसकी वसूली फेक्टर द्वारा यथा समय की जाती है। बिलों से बट्टे अथवा छूट के रूप में काटी गई राशि ही फेक्टर का लाभ होता है, जिसे सेवा प्रभार कहा जाता है।

फेक्टरिंग का लक्ष्य अपनी ग्राहक कम्पनी की बही कम्पनी की बही ऋणों की वसूली का काम हाथ में लेकर उसकी प्रशासनिक एवं वित्तीय कार्यों से छुटकारा दिलाना है। जिससे ग्राहक कम्पनी अपने माल की बिक्री पर पूरा ध्यान केन्द्रित कर सके।

फेक्टरिंग सेवाओं के प्रकार– अभी तक उपलब्ध सेवाओं को निम्नलिखित चार भागों में बाँटा गया है–

(1) पूर्ण सेवा अनाश्रयी फेक्टरिंग (2) पूर्ण सेवा आश्रयी फेक्टरिंग
(3) एजेंसी फेक्टरिंग (4) अप्रकट फेक्टरिंग

फेक्टरिंग एजेंट निम्नलिखित में से कोई एक या अनेक कार्य कर सकते हैं–

(1) निर्यात फेक्टरिंग (2) आयात फेक्टरिंग (3) एकल फेक्टरिंग (4) अप्रत्यक्ष निर्यात फेक्टरिंग (5) प्रत्यक्ष आयात फेक्टरिंग (6) पृष्ठाधान फेक्टरिंग।

इस प्रकार फेक्टरिंग का कोई भी प्रकार हो, वह वसूली की दृष्टि से संदिग्ध ऋणों की सुरक्षा उपलब्ध करा सकता है, बिक्री लेखाकरण कर सकता है तथा वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने के अलावा ऋण के प्रबन्ध का सारा भार ले सकता है। चूँकि बैंक पहले ही घरेलू प्राप्य राशियों का वित्त पोषण कर रहे हैं तथा निर्यात प्राप्य राशियों पर रियायती दरों पर ऋण दे रहे हैं। इसलिये यह आशा की जाती है, कि बहुत-से पूर्तिकर्ता किसी न किसी प्रकार की ऐसी फेक्टरिंग सेवाओं का लाभ उठाना चाहेंगे जो बिक्री बही के प्रशासन, ऋण सुरक्षा तथा उधारों की वसूली से सम्बन्धित हो। इस कारण से निर्यात ऋण के लिये भी फेक्टरिंग सेवाओं की पर्याप्त मांग होगी।

फेक्टरिंग सेवाओं से ग्राहकों को लाभ– फेक्टरिंग सेवाओं से निर्यात के अलावा विशेष रूप से, लघु तथा अनुशंगी उद्योगों को पर्याप्त सहायता मिलेगी। तथा इससे अप्राप्य ऋणों की मात्रा में कमी आयेगी। ऐसा तब होगा, जब इसके लिये सम्बन्धित कानूनों में आवश्यक संशोधन कर दिया जाये, जिससे फेक्टर उसे समानुर्देशित ऋणों को अपने स्वयं के नाम में वसूल कर सके तथा ऋणों की तीव्रतर वसूली करने में उन्हें सहायता पहुँचा सके। फेक्टरिंग सेवाओं को अपनाने से ग्राहक को निम्नलिखित लाभ मिलते हैं–

(1) नकदी का प्रवाह बढ़ेगा तथा इसके साथ ही आदेशों की पूर्ति की क्षमता में भी वृद्धि होगी।
(2) फेक्टरिंग सेवायें ऋण वसूली की समस्या के समाधान के रूप में हैं। अतः इन सेवाओं को अपनाने से ग्राहकों के पीछे वसूली के लिये फिरने में लगने वाले समय में कमी होगी, जिसका सदुपयोग अन्यत्र किया जा सकता है।

भारत में फेक्टरिंग सेवायें– फेक्टरिंग की प्रणाली विशेष रूप से अमेरिका में अपनायी जाती थी, जो शीघ्र ही पूरे महाद्वीप में भी अपनाई जाने लगी। भारत में भी इन सेवाओं को अपनाने के लिये इनकी व्यवहार्यता तथा क्रियाविधि का परीक्षण करने, गठन, संगठनात्मक ढाँचे, क्रिया-कलापों के क्षेत्र तथा अन्य सम्बन्धित मामलों के बारे में राय जानने के लिये भारतीय रिजर्व बैंक ने जनवरी 1988 में श्री कल्याण सुन्दरम् की अध्यक्षता में एक अध्ययन दल का गठन किया गया। इस अध्ययन दल ने जनवरी 1989 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। इस अध्ययन दल की मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित थी–

(1) भारत में फेक्टरिंग सेवायें शुरू करने की पर्याप्त सम्भावनायें हैं, जो कि बैंकों द्वारा दी जा रही सेवाओं की पूरक होगी।
(2) निर्यात फेक्टरिंग सेवाओं के शुरू करने से निर्यात को अतिरिक्त सुविधा प्राप्त होगी।
(3) निर्यात के मामले में यह पाया है कि निर्यात फेक्टरों के द्वारा दी जाने वाली विभिन्न सेवायें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होगी।
(4) जोखिमों के संतुलित बंटवारे के लिये फेक्टरों की सेवायें अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों तथा सभी उद्योगों को उपलब्ध होनी चाहिये।
(5) वित्तीय सेवाओं के लिये लगभग 16 प्रतिशत वार्षिक मूल्य होगा तथा अन्य सभी सेवाओं के लिये दिये गये ऋणों का मूल्य 25 प्रतिशत से 3.0 प्रतिशत होगा।

(6) प्रारम्भ में कुछ चुनी हुई प्रवर्तक संस्थाओं को, जिनके वित्तीय सेवाओं के क्षेत्र में अच्छे रिकार्ड है, और जिनके सक्षम प्रबन्धक वर्ग है, को इस नये क्षेत्र में प्रवेश की अनुमति दी जानी चाहिये।

(7) फेक्टरिंग कार्य प्रस्तावित भारतीय लघु-उद्योग विकास बैंक द्वारा भी एक या अधिक वाणिज्यिक बैंकों के साथ किया जा सकता है।

(8) प्रारम्भ में व्यावसायिक समुदाय को बैंक की शाखाओं के माध्यम से फेक्टरिंग सेवाओं के स्वरूप, क्षेत्र तथा उनसे प्राप्त होने वाले लाभों के बारे में शिक्षित करना चाहिये।

(9) यह सोचा जाता है कि आपूर्तिकर्ता, बैंकों और फैक्टरिंग संगठनों, दोनों से वित्तीय सेवायें प्राप्त करने योग्य होंगे। इसलिये यह आवश्यक है कि बैंकों तथा फेक्टरों के बीच अच्छे सम्बन्ध बनायेरखे जाये।

(10) लघु-उद्योग इकाईयों के लिये फेक्टरिंग सेवायें फेक्टर और लघु-उद्योग इकाई दोनों के लिये लाभकारी होगा। इसलिये फेक्टर को ऐसा प्रयास करना चाहिये, कि इस क्षेत्र में संभाव्य मांगों को निश्चित रूप देने के लिये अपनी व्यूह-रचना तैयार करे।

(11) निर्यातकों की सेवायें उपलब्ध कराने के लिये प्रतिस्पर्धा की भावना बहुत आवश्यक है। उन्हें यह अवसर मिलना चाहिये कि वे अपनी पसन्द और फेक्टर के बारे में यह निर्णय ले सकें कि वे किनकी सेवाओं का उपयोग करना चाहते है ?

प्रश्न-8. लाभांश नीति का निर्धारण किस प्रकार किया जा सकता है? विवेचना कीजिये।

अथवा

भारतीय कम्पनियों द्वारा लाभांश की घोषणा के विषय में भारतीय कम्पनी अधिनियम की प्रमुख व्यवस्थाओं पर अपने समीक्षात्मक विचार लिखिये।

अथवा

लाभांश के वितरण से सम्बन्धित विभिन्न नीतियों की व्याख्या कीजिये। किसी कम्पनी द्वारा किन दशाओं में स्कन्ध लाभांश का वितरण किया जाना चाहिये?

उत्तर- लाभांश के वितरण से सम्बन्धित नीतियाँ- प्रत्येक कम्पनी के संचालक कम्पनी की विशिष्ट परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये ही उस कम्पनी के लिये लाभांश नीति निर्धारित करते हैं। प्रायः तीन प्रकार की लाभांश नीतियाँ प्रवन्धकों द्वारा अपनायी जा सकती हैं-

(1) विकास-परक लाभांश नीति- इसमें कम्पनी के संचालक लाभ के वितरण के विषय में फूँक-फूँक कर कदम रखते हैं। उनकी दृष्टि में कम्पनी की वित्तीय सुदृढ़ता एवं व्यवसाय की दिशा सर्वोपरि होती है, तथा सदस्यों की वर्तमान आशायें गौण स्थान रखती हैं। वे लाभ अधिकांश भाग का व्यवसाय में ही पुनर्विनियोग करना चाहते हैं, तथा सदस्यों को कम से कम लाभांश देते हैं। इससे भुगतान अनुपात या तो शून्य होता है, या बहुत कम जैसे 20 प्रतिशत या इससे कम। एक विकासशील कम्पनी के लिये जिसे अपने सुधार एवं विस्तार के लिये अतिरिक्त पूँजी की आवश्यकता है। इस प्रकार की लाभांश नीति अत्यन्त बुद्धिमतापूर्ण भी मानी जा सकती है, क्योंकि दीर्घकालीन दृष्टि से इससे अंशधारियों को ही लाभ होता है। किन्तु इसमें विशेष ध्यान इस बात का रखा जाना चाहिये कि सदस्यों का धैर्य सीमा को पार न कर जाये। इस दशा में भुगतान अनुपात कम होगा किन्तु कवर अधिक होगा। कवर अधिक होने के साथ-साथ कम्पनी का पिछला रिकार्ड एवं भावी सम्भावनायें भी उत्तम होनी चाहिये। तब

ही कम्पनी को और उसके अंशधारियों को ऊँचे कवर अथवा अधिक प्रतिधारित आय का लाभ प्राप्त हो सकेगा।

(2) उदार लाभांश नीति- इसमें प्रबन्ध लाभ के अधिकांश भाग का वितरण सदस्यों को कर देते हैं। कम्पनी में लाभ का केवल उतना ही भाग रखा जाता है, जो अत्यन्त आवश्यक समझा जाता है। इसके अन्तर्गत भुगतान अनुपात 80 प्रतिशत या इससे अधिक भी हो सकता है। इस नीति के अन्तर्गत अंशधारियों के दीर्घकालीन हितों की उपेक्षा करते हुये उनकी वर्तमान अपेक्षाओं को अधिक महत्व दिया जाता है। प्रबन्धक खुले हाथों से लाभांश का वितरण करते हैं जो सदस्यों के लिये यह "आँधी के आम" की भाँति है। स्पष्ट है, कि ऐसी नीति न तो बुद्धिमतापूर्ण है, और न दूरदर्शितापूर्ण है। इस नीति से यह भ्रम उत्पन्न होगा कि प्रबन्धकों के पास कम्पनी के विकास-विस्तार की कोई परियोजनायें नहीं हैं। अतः कम्पनी की भावी सम्भावनायें क्षीण हैं।

(3) सुस्थिर अथवा सुदृढ़ लाभांश नीति- यह नीति दीर्घकालीन होती है, तथा इसमें लम्बी अवधि तक कोई विशेष परिवर्तन नहीं किये जाते। इस नीति के अन्तर्गत कम्पनी की आवश्यकताओं एवं अंशधारियों के हितों को समान महत्व दिया जाता है। जितना लाभांश दिया जाता है, लगभग उतना ही लाभ का भाग व्यवसाय में पुनर्विनियोजित किया जाता है। सम्पन्नता के वर्षों में भी उतना ही लाभांश दिया जाता है, जितना कि सामान्य अथवा प्रतिकूल वर्षों में। अतः यह एक मध्यमवर्गीय नीति है। इस दृष्टि से लाभांश वितरण की यह एक आदर्श नीति कही जा सकती है। वस्तुतः स्थिर लाभांश नीति के तीन स्वरूप हो सकते हैं-

(i) प्रति अंश स्थिर लाभांश- इसके अन्तर्गत कम्पनी प्रतिवर्ष अपनी आय में उतार-चढ़ाव होने के वावजूद प्रति अंश लाभांश के रूप में एक स्थिर धनराशि अंशधारियों को चुकाती है। इस स्थिर धनराशि में न अधिक आय वाले वर्षों में वृद्धि की जाती है, और न कम आय वाले वर्षों में कमी की जाती है।

चूँकि आय में उतार-चढ़ाव होते रहते है, अतः यह आवश्यक है, कि कम्पनी द्वारा एक लाभांश समीकरण कोष की स्थापना की जाये, ताकि अधिक आय वाले वर्षों में इस कोष में प्रतिधारित आय का पर्याप्त भाग जमा होता रहे। जिसका उपयोग कम आय वाले वर्षों में अंशधारियों को प्रति अंश लाभांश की निर्धारित राशि का भुगतान करने में किया जा सके। इस कोष में जमा राशि को ऐसे अल्पकालीन निवेशों में लगाया जा सकता है, जिसे आवश्यकता पड़ने पर सरलता से तरलीकृत किया जा सके।

(ii) स्थिर भुगतान अनुपात- इस नीति का परिपालन ऐसी कम्पनियाँ कर सकती हैं, जिनकी आय में प्रतिवर्ष उतार-चढ़ाव तो होते हैं, किन्तु वे असामान्य न होकर सामान्य घट-बढ़ के रूप में होते हैं। इसके अन्तर्गत आय में घट-बढ़ के साथ प्रति अंश लाभांश की राशि में भी वर्ष-प्रतिवर्ष परिवर्तन होता रहता है, क्योंकि आय का एक निर्धारित अथवा स्थिर अनुपात लाभांश के रूप में चुकाया जाता है। इसमें भुगतान अनुपात स्थिर रहता है, तथा आय के एक निश्चित अनुपात में लाभांश दिया जाता है।

(iii) स्थिर लाभांश के साथ अतिरिक्त लाभांश- ऐसी कम्पनियाँ जिनकी आय में अधिक उतार-चढ़ाव होते रहते हैं, स्थिर लाभांश नीति का एक तीसरा स्वरूप अपना सकती हैं। इसके अन्तर्गत प्रति अंश लाभांश के रूप में एक न्यूनतम लाभांश के साथ-साथ कुछ अतिरिक्त लाभांश भी अंशधारियों को दिया जाता है, तथा कम आय वाले वर्षों में केवल न्यूनतम लाभांश ही मिलता है। इसका सबसे बड़ा लाभ यह है कि अस्थिर आय वाली

कम्पनियाँ भी इसे अपना सकती हैं। ऐसी कम्पनियों के अंशों के बाजार मूल्यों में परिवर्तन अतिरिक्त लाभांश की मात्रा एवं निरन्तरता के साथ जुड़ जाते हैं।

भारतीय कम्पनी अधिनियम की लाभांश के सम्बन्ध में व्यवस्थायें– लाभांश की घोषणा करना संचालक मण्डल के निर्णय एवं उनकी इच्छा पर निर्भर करता है। ऐसा करने के लिये अंशधारी संचालकों को बाध्य नहीं कर सकते, किन्तु संचालक मण्डल द्वारा रिपोर्ट में दिये गये सुझाव के आधार पर कम्पनी की साधारण सभा में एक बार घोषणा होने के बाद कम्पनी के लिये लाभांश का भुगतान करना अनिवार्य हो जाता है। घोषणा होने के बाद लाभांश कम्पनी के ऊपर अंशधारियों के ऋण के समान हो जाता है जिसका भुगतान प्राप्त करने का अधिकार अंशधारियों को होता है। लाभांश के विषय में कम्पनी को अपने पार्षद सीमानियमों एवं अन्तर्नियमों में की गयी व्यवस्थाओं का पालन करना होता है। कम्पनी लाभांश केवल वास्तविक लाभों में से ही दे सकती है। वास्तविक लाभ की परिभाषा कम्पनी अधिनियम की धारा 205 (2) में दी गयी है। इसमें वे लाभ सम्मिलित हैं, जो ह्रास के लिये व्यवस्था करने के बाद शेष बचते हैं। पिछले वर्षों के अतिरिक्त लाभ को भी इसमें सम्मिलित किया जा सकता है, यदि उनमें ह्रास कोष के लिये व्यवस्था कर दी गयी हो। इसी प्रकार न्यूनतम लाभांश की गारण्टी के लिये केन्द्रीय अथवा राज्य सरकार द्वारा प्रदान की गयी धनराशि भी वास्तविक लाभों में सम्मिलित की जाती है।

यदि कम्पनी के संचालक जानबूझकर हिसाब-किताब में हेर-फेर करके अथवा सम्पत्तियों के मूल्यों को ऊँचा दिखाकर निकाले गये कल्पित या फर्जी लाभों में से लाभांश बांटते हैं, तो यह प्रथम दृष्टया अभियोग माना जाता है, ओर वे इसके लिये व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी माने जाते हैं। यदि कम्पनी के सदस्य यह जानते हुये भी कि पूँजी में से लाभांश दिया जा रहा है, इसमें भाग लेते हैं, तो उनसे यह रकम लौटायी जा सकती है।

निम्नलिखित दशाओं में पूँजी में से लाभांश का वितरण माना जायेगा–

1. किसी स्थायी सम्पत्ति की बिक्री द्वारा प्राप्त रकम को यदि कम्पनी लाभांश के रूप में बांटती है।
2. यदि कुछ आयगत व्ययों को पूँजीगत मानकर दिखाये गये लाभ को बाँटा गया हो।
3. यदि किसी वर्ष कम्पनी को हानि होती है, तथा पिछले वर्षों के अवितरित लाभ भी नहीं है, फिर भी लाभांश बाँट दिया जाता है।

स्कन्ध लाभांश का वितरण– एक निगम उपक्रम द्वारा संचय एवं अधिक्य के पूँजीकरण द्वारा अंशों का आबंटन स्कन्ध लाभांश कहलाता है। स्कन्ध लाभांश अंशतः प्रदत्त अंशों को पूर्ण प्रदत्त बनाकर अथवा पूर्ण प्रदत्त नये अंश निशुल्क निर्गमित करके किया जा सकता है। इससे कम्पनी की सम्पत्ति या आस्तियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, और देनदारियों में थोड़ा हेर-फेर करने से ही काम चल जाता है। संचित लाभ एवं अधिशेष खातों में से आवश्यक राशि पूँजी खाते में परिवर्तित कर दी जाती है। सामान्यतः एक कम्पनी द्वारा निम्नलिखित परिस्थितियों में स्कन्ध लाभांश वितरित किया जा सकता है–

1. जब कम्पनी के पास लाभांश देने हेतु पर्याप्त रोकड़ न हो अथवा नकद लाभांश के कारण कार्यशील पूँजी में कमी का वित्तीय स्थिति पर विपरीत प्रभाव पड़ने की सम्भावना हो।
2. जब कम्पनी के संचय बहुत अधिक बढ़ गये हों और यह वास्तविक अर्जन शक्ति दिखाना चाहती हो अर्थात् उच्च लाभांश दर को सामान्य प्रत्याय के समकक्ष लाना हो।

3. जब कम्पनी पर्याप्त लाभ होते हुये भी लाभांश भुगतान के सम्बन्ध में सरकारी प्रतिबन्धों के कारण ऊँची दर से लाभांश घोषित नहीं कर सकती।
4. जब कम्पनी ऊँची दर से लाभांश इसलिये घोषित नहीं करना चाहती कि अंशधारी भविष्य में भी इसी दर से लाभांश की अपेक्षा करेंगे।
5. जब अंशों के अंकित मूल्य एवं बाजार मूल्य में अधिक अन्तर हो।

प्रश्न–9. एक समुचित लाभांश नीति के आवश्यक तत्व कौन–कौन से हैं? लाभांश के विभिन्न प्रकारों को स्पष्ट कीजिये।

अथवा

किसी कम्पनी की लाभांश नीति को निर्धारित करते समय किन–किन तथ्यों पर ध्यान देना आवश्यक होता है? उदाहरण सहित समझाइये।

अथवा

किसी निगम की सुदृढ़ लाभांश नीति के आवश्यक तत्वों की विवेचना कीजिये। भारतीय कम्पनी अधिनियम 1956 के लाभांश घोषणा सम्बन्धी प्रावधानों की विवेचना कीजिये।

अथवा

भारतीय कम्पनियों द्वारा दिये जाने वाले विभिन्न प्रकार के लाभांशों का उल्लेख करते हुये एक उपक्रम की स्वस्थ लाभांश नीति को निर्धारित करने वाले तत्वों का वर्णन कीजिये।

उत्तर– एक सुदृढ़ या समुचित लाभांश नीति के आवश्यक तत्व– यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है, कि कम्पनी के संचालकों को ही कम्पनी की अर्जनों में से लाभांश घोषित करने एवं इसकी राशि निर्धारित करने का अधिकार है किन्तु उन्हें लाभांश नीति को निर्धारित करते समय वैधानिक प्रतिबन्धों के अतिरिक्त अनेक तत्वों पर विचार करना होता है। प्रत्येक प्रस्तावित लाभांश के समय संस्था की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों को उचित महत्व दिया जाना चाहिये। अर्जनों का विवेकपूर्ण वितरण एवं कानूनीवाद में बहुत ही सुन्दर ढग से स्पष्ट किया गया है जिसके अनुसार "शुद्ध अर्जनें जो अंशधारियों में वितरित की जानी चाहिये। वे मुख्यतः कम्पनी की साख को सुदृढ़ करने के लिये संचित कोषों की आवश्यकता, कार्यशील पूँजी में वृद्धि, विस्तार सम्बन्धी परियोजनाओं की पूर्ति अथवा भावी खतरों के लिये संदिग्धताओं की व्यवस्था पर निर्भर करती है।" वास्तव में अंशधारियों के अधिशेष व्यवसाय में प्रति धारण तथा वितरण निम्नलिखित घटकों (तत्वों) से प्रभावित होता है–

1. **स्थायित्व–** लाभांशों के वितरण में स्थिरता का आशय वितरण में नियमितता बनाये रखने से है, यदि कोई कम्पनी एक वर्ष तो काफी अच्छा लाभांश घोषित कर देती है। लेकिन अलगे ही वर्ष लाभांश नहीं बाँट पाती तो इसे अच्छा नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत एक कम्पनी प्रति वर्ष लाभांश देती है भले ही वह मध्यम दर पर हो तो उसके अंशधारी सन्तुष्ट रहेंगें और उसके अंशो में अधिक परिकल्पना नही होगी। इस सम्बन्ध में लाभांश सन्तुलन कोष की स्थापना करनी उचित रहती है।

2. **लाभांश दरों में क्रमशः वृद्धि–** कम्पनी को सदैव इस बात के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये, कि लाभांश दर मे कुछ वृद्धि हो, बढते हुये मूल्य स्तर के करण एवं कम्पनी की साख अधिक होने पर अंशधारी भी यह चाहते है कि उनकी आय में भी वृद्धि हो। अतः इस दर को थोड़ा-थोड़ा बढ़ाते रहना चाहिये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह वृद्धि कम्पनी की आय में वृद्धि होने पर ही निर्भर करेगी। यदि किसी वर्ष अधिक लाभ हो तो अतिरिक्त लाभांश अथवा अन्तरिम लाभांश भी वितरित किये जाने चाहिये।

3. **नकद लाभांशों का वितरण–** लाभांश अधिकतर नकदी के रूप में ही दिये जाने चाहिये। लेकिन जब कम्पनी में संचिति कोषों की राशि बहुत अधिक हो जाये तो स्कन्ध

लाभांश भी घोषित किया जा सकता है। स्कन्ध लाभांश का वितरण उचित सीमा के अन्दर ही रखना जाना चाहिये, अन्यथा कम्पनी अति पूँजीकरण का शिकार बन सकती है।

4. आरम्भ में कम लाभांश– कम्पनी की स्थापना के प्रारम्भिक वर्षों में कुछ समय तक कम दरों से ही लाभांश घोषित किये जायें। ताकि कम्पनी की वित्तीय स्थिति सुदृढ़ बन सके। बाद में कम्पनी की प्रगति के साथ-साथ इसमें धीरे-धीरे वृद्धि की जा सकती है।

5. अन्य बातें– लाभांश का भुगतान केवल अर्जित लाभों में से ही किया जाना चाहिये। यदि लाभ-हानि खाते में पहले से ही कोई हानि चली आ रही है, तो जब तक वह अपलिखित न हो जाये, लाभांश की घोषणा नहीं करनी चाहिये। यद्यपि लाभांश अधिकतर एक वर्ष एक ही बार दिया जाता है लेकिन अंशधारियों की उत्साह वृद्धि के लिये अन्तरिम लाभांश भी वितरित किये जायें। राज्य व्यापार निगम के भूतपूर्व अध्यक्ष **पी. एल. टण्डन** के अनुसार लाभांश प्रति तिमाही घोषित किये जाने चाहिये।

लाभांश के विभिन्न प्रकार– लाभांश कई प्रकार का हो सकता है। इसका वर्गीकरण इसके विवरण के तरीके के आधार पर किया जा सकता है। इसके प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं–

(1) **नकद लाभांश**– नकद लाभांश आय वितरण का सबसे प्राचीन, सरल और लोकप्रिय रूप है। इसे अंशधारी सबसे ज्यादा पसन्द करते हैं। जिन कम्पनियों की तरल स्थिति ठीक होती है। वे भी नकद लाभांश को बांटना पसन्द करती हैं। भारतीय कम्पनी अधिनियम की धारा 205 के अनुसार, भारतीय कम्पनियाँ नकद के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से लाभांश नहीं बाँट सकती हैं, हाँ स्कन्ध लाभांश इसका अपवाद है।

(2) **स्कन्ध लाभांश**– जिन कम्पनियों की नकदी (रोकड़) की हालत ठीक नहीं होती वे अपने लाभों को पूँजीकरण करके स्कन्ध लाभांश वितरित कर सकती है। इसके अन्तर्गत कम्पनी नकद लाभांश नहीं देती अपितु घोषित रकम के बराबर नये अंश अंशधारियों को आवंटित कर देती है। ऐसे आवंटित किये गये अंश बोनस अंश कहलाते हैं।

(3) **बन्ध पत्रों के रूप में लाभांश**– कम्पनी नकद लाभांश न देकर बन्ध-पत्र अथवा ऋण-पत्रों के रूप में भी लाभांश दे सकती है। ये बन्ध पत्र दीर्घकालीन हो सकते हैं। इस प्रकार का लाभांश तभी दिया जाता है जब कम्पनी ब्याज सम्बन्धी बढ़े हुये दायित्वों का भार उठाने में समर्थ हो, कभी-कभी लाभांश के लिये प्रतिज्ञा-पत्र दिये जाते हैं, जिन पर ब्याज दिया जा सकता है। इसे स्क्रिप लाभांश कहा जाता है। ये प्रायः अल्पकालीन ही होते हैं। सामान्यतः 6 मास के अन्तर्गत भुगतान योग्य।

(4) **सम्पत्ति लाभांश**– नकद के स्थान पर लाभांश सम्पत्ति के रूप में भी दिया जा सकता है। अन्य कम्पनियों की तथा सरकार की प्रतिभूतियों को लाभांश के रूप में वितरित किया जा सकता है। इसी प्रकार विभाजन योग्य किसी अन्य सम्पत्ति को भी लाभांश के रूप में वितरित किया जा सकता है। लाभांश का यह तरीका बहुत कम ही अपनाया जाता है, क्योंकि सदस्यों को यह ढंग असुविधाजनक हो सकता है।

(5) **संयुक्त लाभांश**– जब लाभांश आंशिक रूप से नकद में तथा शेष सम्पत्ति के रूप में दिया जाता है तो वह संयुक्त लाभांश कहलाता है।

(6) **वैकल्पिक लाभांश**– संयुक्त लाभांश देने के स्थान पर कम्पनी अपने सदस्यों को यह विकल्प दे सकती है कि वे चाहे तो लाभांश नकद में लें, अथवा सम्पत्ति के रूप में तो इसे वैकल्पिक लाभांश कहते हैं। प्रायः अंशधारी लाभांश नकद ही लेना पसन्द करते हैं।

(7) **अन्तरिम लाभांश**– प्रायः लाभांश कम्पनी के वित्तीय वर्ष के अन्त में ही घोषित किया जाता है। इसे नियमित लाभांश कहते हैं, किन्तु कभी-कभी कम्पनी के संचालक वर्ष की समाप्ति से पूर्व ही लाभांश घोषित कर देते हैं, जिसे अन्तरिम लाभांश कहते हैं।

(8) **अतिरिक्त अथवा विशिष्ट लाभांश**– जब कम्पनी प्रबन्धक नियमित लाभांश की दर में अचानक परिवर्तन करना उचित नहीं समझते लेकिन कम्पनी के पास अच्छे लाभ या संचित कोष हो तो वे अतिरिक्त लाभांश घोषित कर सकते हैं। इस प्रकार विशिष्ट लाभांश एक असामान्य एवं अनावर्ती भुगतान होता है।

लाभांश घोषणा एवं वितरण के सम्बन्ध में भारतीय कम्पनी अधिनियम के प्रावधान– भारत में लाभांश की घोषणा एवं वितरण के सम्बन्ध में कम्पनी को अपने अन्तर्नियमों, कम्पनी अधिनियम 1956 की धारा 205 तथा 206 एवं सारणी 'अ' के नियमों का पालन करना अनिवार्य है। इन सबके अनुसार इस सम्बन्ध में निम्नलिखित महत्वपूर्ण व्यवस्थायें हैं–

1. **पूँजी में से लाभांश को न बांटा जाये**– किसी भी अवस्था में लाभांश पूँजी में से नहीं दिया जा सकता। लाभांश वर्ष के लाभों अथवा अन्य किन्हीं अवितरित लाभों में से ही दिया जा सकता है। सारणी 'अ' का नियम 97 पूँजी में से लाभांश वितरण का आशय स्पष्ट करता है।

2. **पार्षद सीमानियम तथा अन्तर्नियमों का पालन**– यदि विभाजन योग्य लाभ के सम्बन्ध में कम्पनी पार्षद सीमा नियम तथा अन्तर्नियमों में कुछ आदेश दिये हुये हैं, तो उनका पालन किया जाना चाहिये। लाभांश घोषित करने तथा उनके भुगतान करने की रीति का उल्लेख प्रायः कम्पनी के अन्तर्नियमों में दिया होता है। वे अन्तर्नियम कम्पनी अधिनियम की व्यवस्था के विरूद्ध नहीं हो सकते।

3. **लाभांश का भुगतान केवल लाभों में से**– लाभांश के सम्बन्ध में एक सबसे महत्वपूर्ण नियम यह है कि इसका भुगतान केवल लाभों में से ही किया जा सकता है, पूँजी में से नहीं। कम्पनी अधिनियम के अधीन, कम्पनी द्वारा किसी आर्थिक वर्ष के लाभांश की घोषणा अथवा भुगतान (i) ह्रास की व्यवस्था करने के पश्चात् कम्पनी के उस आर्थिक वर्ष के लाभों में से किया जा सकता है। अथवा (ii) जहाँ केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय सरकार ने लाभांश की प्रतिभूति दी है। वहाँ इनके फलस्वरूप प्राप्त होने वाली धनराशि से किया जा सकता है।

4. **लाभांश का भुगतान केवल नकदी में**– अधिनियम की धारा 205 (3) के अनुसार केवल निम्नलिखित परिस्थितियों को छोड़कर लाभांश भुगतान नकद ही किया जाना चाहिये–

(1) लाभों का पूँजीकरण करना।

(2) कम्पनी के संचय को पूर्णदत्त अधिलाभांश अंशों के निर्गमन के लिये प्रयोग करना।

(3) सदस्यों को पूर्व निर्गमित अंशों के अदत्त भाग का भुगतान करना।

5. **लाभांश का भुगतान केवल निर्दिष्ट व्यक्तियों को** – लाभांश का भुगतान (i) रजिस्टर्ड अंशधारी को अथवा उसके आदेशित व्यक्ति को अथवा उसके बैंकर को, (ii) यदि अंशपत्र निर्गमित किया जा चुका है तो ऐसे अधिपत्र के वाहक को अथवा उसके बैंकर को दिया जा सकता है। अन्य किसी व्यक्ति को नहीं।

6. **भुगतान का समय**– धारा 207 के अनुसार कुछ अपवादों को छोड़कर सामान्यतः घोषणा की तिथि के बाद 42 दिन के अन्दर लाभांश का भुगतान कर दिया जाना चाहिये अन्यथा दोषी व्यक्ति को दण्ड दिया जायेगा।

प्रश्न–10. लाभांश के विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना कीजिये।

अथवा

'लाभांश के विषय में लिये गये निर्णयों का अंशों के मूल्यों पर और इस प्रकार फर्म के बाजार मूल्य पर अधिक प्रभाव पड़ता है।' विभिन्न लाभांश सिद्धान्तों के सन्दर्भ में इस कथन का परीक्षण कीजिये।

अथवा

टिप्पणी लिखिये– (1) वाल्टर मॉडल, (2) गोर्डन मॉडल, (3) एम.एम. मॉडल।

उत्तर– लाभांश के सिद्धान्त– लाभांश के सिद्धान्तों के सन्दर्भ में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने अनेक मॉडल प्रस्तुत किये हैं, जो इस प्रकार है–

1. **वाल्टर फार्मूला अथवा मॉडल– प्रोफेसर जेम्स ई. वाल्टर** ने लाभांश नीति के निर्धारण के लिये गणितीय फार्मूले का प्रतिपादन किया, जिसे **वाल्टर फार्मूले** के नाम से जाना जाता है। इस फार्मूले के आधार पर किसी कम्पनी के प्रबन्धक लाभांश नीति का निर्धारण इस प्रकार से कर सकते हैं, कि जिससे कम्पनी के अंशधारियों द्वारा अंशों में किये गये पूँजी विनियोग के मूल्य में अभिवृद्धि हो सके। "इस सिद्धान्त का मूल आधार यह है, कि दीर्घकाल में अंशों के बाजार भाव, भविष्य में प्राप्य सम्भावित लाभांशों के वर्तमान मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते है, तथा प्रतिधारित आय की सीमा अंशों के बाजार भावों को इसलिये प्रभावित करती है, क्योंकि उसके स्वय का प्रभाव भावी लाभांशों पर पडता है।" यह फार्मूला निम्न दो मान्यताओं पर आधारित है–

(1) अंशों के बाजार मूल्य भविष्य में सम्भावित लाभांशों के वर्तमान मूल्यों द्वारा प्रतिबिम्बित होते हैं, तथा

(2) व्यवसाय के प्रतिधारित आय भविष्य में प्राप्त होने वाले लाभांशों को प्रभावित करती है, और इस प्रकार अंशों के बाजार मूल्यों पर उसका प्रभाव पड़ता है।

चूँकि 'लाभांश' एवं 'व्यवसाय में प्रतिधारित आय' एक-दूसरे से विपरीत रूप से प्रभावित होते हैं। अतः इस फार्मूले के द्वारा लाभांश नीति एवं अंशों के बाजार-मूल्यों के पारस्परिक सम्बन्ध को समझने में सहायता मिलती है।

वाल्टर फार्मूला– $$Ve = \frac{D + \frac{Ra}{Re}(E - D)}{Re}$$

जहाँ– Ve = कम्पनी के साधारण अंश का सैद्धान्तिक बाजार मूल्य,
Ra = प्रतिधारित आय की आन्तरिक उत्पादकता,
Re = बाजार में प्रचलित पूँजीकरण की दर,
E = प्रति अंश आय,
D = प्रति अंश लाभांश।

(2) **गोर्डन का सिद्धान्त या मॉडल–** गोर्डन का सिद्धान्त बहुत कुछ मात्रा में वाल्टर के सिद्धान्त जैसा ही है, क्योंकि यह सिद्धान्त भी इस मान्यता पर आधारित है, कि किसी कम्पनी के लाभांश तथा प्रतिधारित आय एवं कम्पनी के अंशों में गहरा सम्बन्ध होता है, तथा दोनों एक-दूसरे को प्रभावशाली ढंग से प्रभावित करते हैं। उनकी मान्यता है, कि भविष्य में मिलने वाले सम्भावित लाभांश भी कम्पनी के अंशों के बाजार मूल्य के निर्धारण में महत्वपूर्ण योगदान करते हैं। गोर्डन के इस लाभांश पूँजीकरण के सिद्धान्त में यह मान लिया गया है कि अंशों का बाजार मूल्य उन अंशों पर भविष्य में प्राप्त होने वाले लाभांशों के वर्तमान मूल्य के बराबर है। गोर्डन का फार्मूला निम्नलिखित है–

$$V = \frac{E(1-b)}{K-br}$$

जहाँ, V = साधारण अंशों की कीमत अथवा मूल्य,
E = प्रति अंश अर्जित आय,
B = प्रतिधारित अनुपात अथवा प्रतिधारित आय का प्रतिशत,
(1–b) = लाभांश भुगतान अनुपात,
K = वांछित प्रत्याय दर अथवा पूँजीकरण दर,
r = कम्पनी की पूँजी पर प्रत्याय की दर,
br = r में वृद्धि की या आन्तरिक लाभदायकता में वृद्धि दर।

(3) **मोदिगलियानी एवं मिलर मॉडल या एम.एम. मॉडल–** मोदिगलियानी एवं मिलर मॉडल वस्तुतः यह मानता है, कि लाभांश निर्णयों का अंशों के मूल्यों एवं फर्म के मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसीलिये इस सिद्धान्त को लाभांश असंगत मॉडल भी कहा जाता है। इसकी मान्यता यह है, कि आय का लाभांश एवं प्रतिधारित आय के रूप में विभाजन फर्म के मूल्यांकन के लिये असंगत होता है। इस सिद्धान्त का निम्न सूत्र है–

$$Po = \frac{1}{1+K}(D_1 + P_1)$$

जहाँ, Po = प्रति अंश बाजार मूल्य, K = बाजार में पूँजीकरण की दर,
D_1 = लाभांश की राशि, P_1 = अंश का बाजार मूल्य।

विभिन्न लाभांश सिद्धान्तों के सन्दर्भ में, "लाभांश के विषय में लिये गये निर्णयों का अंशों के मूल्यों पर और इस प्रकार फर्म के बाजार मूल्य पर अधिक प्रभाव पड़ता है।" यह कथन पूर्णतः सत्य है। लाभांश निर्धारण के विभिन्न सिद्धान्तों द्वारा अंशों के मूल्य और बाजार मूल्यों को प्रभावित किया जाता है।

मोदिगलियानी एवं मिलर मॉडल, एम.एम. परिकल्पना के नाम से भी जाना जाता है। वास्तविकता में एम.एम. परिकल्पना में यह स्वीकार किया जाता है, कि लाभांश निर्णयों का अंशों के मूल्य एवं फर्मों के मूल्य को प्रभावित नहीं करता है। अतः एम.एम. मॉडल को लाभांश असगंत मॉडल भी कहते हैं। एम.एम. मॉडल की यह मान्यता है कि आय का लाभांश एवं प्रतिधारित आय के रूप में विभाजन फर्म का मूल्यांकन करने के लिये असंगत होता है। यदि फर्म के प्रबन्धक सम्पूर्ण आय को व्यवसाय में ही प्रतिपादित करने का निर्णय लेते हैं और इस प्रकार फर्म के अंशधारियों को कोई नगद लाभांश प्रदान नहीं करते हैं, तो ऐसी परिस्थिति में अंशधारी प्रतिधारित आय की सीमा तक अंशों में की गयी विनियोजित पूँजी पर पूँजी अभिवृद्धि का लाभ प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत, यदि प्रबन्धक व्यापार की सम्पूर्ण आय को लाभांश के रूप में वितरित करने का निर्णय लेते हैं। इस प्रकार प्रतिधारित अनुपात शून्य रखते हुये भी अंशधारियों को अंशों का इतना मूल्य प्राप्त हो जाता है, जो अंशधारियों को उस दशा में प्राप्त होता, यदि प्रबन्धक द्वारा व्यवसाय में ही सम्पूर्ण आय को प्रतिधारित करने का निर्णय लिया जाता। एम.एम. परिकल्पना के अनुसार अंशधारी इन दोनों विकल्पों के प्रति उदासीन रहते हैं। अंशधारियों को इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, कि अंशधारियों को आय में से नकद लाभांश प्रदान किया जाये अथवा लाभांश को व्यवसाय में ही प्रतिधारित कर लिया जाये। एम.एम. मॉडल अनेक मान्यताओं को लेकर चलता है। इस मॉडल की मान्यतायें निम्नलिखित है–

(1) वर्तमान में पूँजी बाजार पूर्ण है अर्थात् पूँजी बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान है। इस सम्बन्ध में यह कहा जायेगा कि सभी विनियोजक विवेकशील हैं। पूँजी बाजार से सम्बन्धित सूचनायें समय पर शीघ्र निःशुल्क उपलब्ध होती हैं। जिन प्रतिभूतियों का सौदा किया जाता है, उन्हें किसी भी सीमा तक विभाजित किया जा सकता है

तथा पूँजी बाजार में कोई भी पूँजी विनियोजक इतना सशक्त एवं सुदृढ़ नहीं है, कि वह अंशों के मूल्यों पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सके।

(2) पूँजी बाजार में व्यवहार-लागतें शून्य हैं, अर्थात् प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय के लिये किसी प्रकार की कोई दलाली अथवा कमीशन का भुगतान नहीं करना पड़ता है।

(3) पूँजी बाजार में पूँजी-निर्गमन की लागतें शून्य हैं, अर्थात् किसी भी प्रकार की विपणन लागतें नहीं आती हैं।

(4) पूँजी बाजार में कम्पनियों की आय पर कोई कर नहीं लिया जाता है।

(5) पूँजी बाजार में फर्म द्वारा एक निश्चित निवेश नीति का परिपालन किया जाता है, जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ, कि यदि नये निवेशों की वित्त-पूर्ति प्रतिधारित आय के आधार पर की जाती है तो फर्म की व्यावसायिक आय के जोखिम की अनुभूति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस प्रकार प्रत्याय की वांछित दर में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

(6) पूँजी बाजार में पूँजी निवेशक इस स्थिति में होते हैं, कि वे फर्म की आय, प्रगति एवं भावी सम्भावनाओं के विकास में निश्चित एवं सही अनुमान लगा सकें।

भरत एण्टरप्राइजेज लिमिटेड में 100-100 रुपयों के मूल्य के 10,000 पूर्णतः चुकता अंश है। ये जिस वर्ग की कम्पनियों में है, उसके लिये बाजार में प्रचलित पूँजीकरण की दर 10 प्रतिशत है। कम्पनी के प्रबन्धकों द्वारा वर्ष के अन्त में 5 रुपये प्रति अंश लाभांश देने का प्रस्ताव किया जा रहा है। इस वर्ष कम्पनी में 1,50,000 रुपयों की आय होने का अनुमान है। अगले वर्ष के प्रारम्भ में कम्पनी के प्रबन्धकों के समक्ष 4,00,000 रुपयों के नवीन पूँजी-निवेश का निर्णय विचाराधीन है। मोदिगलियानी एवं मिलर के सिद्धान्त को आधार मानते हुये सिद्ध कीजिये कि निम्नलिखित दोनों विकल्पों में फर्म का बाजार-मूल्य समान रहेगा।

(A) प्रथम विकल्प- यदि प्रबन्धकों द्वारा लाभांश देने का निर्णय किया जाता है।

(B) द्वितीय विकल्प- यदि प्रबन्धकों द्वारा लाभांश देने का निर्णय नहीं किया जाता है और आय व्यवसाय में ही प्रतिधारित किये जाने का निर्णय लिया जाता है।

हल : (A) In case the dividend is paid as proposed by the Management:

(a) Price of each share at the end of the year

$$P_0 = \frac{1}{1+K}(D_1 + P_1)$$

Where P_0 = Market price per share at the beginning of the year.

K = Rate of capitalisation in the market,

D_1 = Amount of dividend at the end of year one.

P_1 = Market price of the share at the end of year one

Therefore, $P_0 = \frac{1}{1+K}(D_1 + P_1)$

$$100 = \frac{1}{1+.10}(5 + P_1)$$

$$100 = (5 + P_1)$$

$$P_1 = (110 - 5)$$

$$= \text{Rs.}105$$

(b) Amount needed to be Procured by issue of additional shares.

$\Delta nP_1 = I - E - nD_1$

where, $= 4,00,000 - 1,50,000 - 50,000$

$= \text{Rs. } 2,00,000$

Δn = Number of additional shares to be issued.

I = Proposed New Investment

E = Earnings of the Firm

nD_1 = Dividend to be paid on existing shares

(c) Number of new Shares required to be issued

$$\Delta n = \frac{3,00,000}{105} = \frac{60,000}{21} \text{ shares}$$

(d) Value of the Firm

$$nP_0 = \frac{(n + \Delta n)P_1 - I - E}{(1 + K)}$$

$$= \frac{\left(\frac{10,000}{1} + \frac{60,000}{21}\right)105 - 4,00,000 - 1,50,000}{(1 + .10)}$$

$$= \frac{(2,10,000 + 60,000)5 - 4,00,000 - 1,50,000}{(1 + .10)}$$

$$= \frac{13,50,000 - 2,50,000}{(1 + .10)} = \frac{11,00,000}{(1 + .10)}$$

$= \text{Rs. } 10,00,000.$

(B) In case the management decides not to pay dividend :

(a) Price per Share at the end of the year

$$P_0 = \frac{1}{1+K}(P_1 + D_1)$$

$$100 = \frac{P_1 + \text{Zero}}{1 + .10}$$

$$P_1 = \text{Rs. } 110$$

(b) Amount needed to finance new project by issue of additional shares

$$\Delta nP_1 = I - E - nD_1$$

$$= 4,00,000 - 1,50,000 - \text{Zero}$$

$$= \text{Rs. } 2,50,000$$

(c) Number of new shares required to be issued

$$\Delta n = \frac{2,50,000}{110} = \frac{25,000}{11} \text{ shares}$$

(d) Value of the Firm

$$nP_o = \frac{(n + \Delta n)P_1 - I - E}{(1 + K)}$$

$$= \frac{\left(\frac{10,000}{1} + \frac{25,000}{11}\right) \times 110 - 4,00,000 - 1,50,000}{(1 + .10)}$$

$$= \frac{(1,35,000 \times 10) - 2,50,000}{(1 + .10)}$$

$$= \frac{13,50,000 - 2,50,000}{(1 + .10)} = \frac{11,00,000}{(1 + .10)}$$

= Rs. 10,00,000.

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि प्रबन्धकों के समक्ष विचाराधीन निर्णयों के दोनों ही विकल्पों के अन्तर्गत फर्म का मूल्य समान रहता है। परिणामस्वरूप यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लाभांश एवं प्रतिधारण नीति में परिवर्तन फर्म के मूल्य को प्रभावित नहीं करता है और इसलिये इस सिद्धान्त के अनुसार वह असंगत होता है। मोदिगलियानी एवं मिलर के अनुसार फर्म के मूल्य को प्रभावित करने वाले कारणों में सबसे महत्वपूर्ण कारण फर्म की आय में होने वाला परिवर्तन है। फर्म की आय में वृद्धि निश्चित रूप से फर्म के मूल्य में वृद्धि करती है।

प्रश्न–11. लाभांश नीति की वाल्टर विचारधारा क्या है? समझाइये। क्या यह वित्तीय प्रबन्धकों के लिये उपयोगी है?

अथवा

वाल्टर का सिद्धान्त या वाल्टर मॉडल क्या है? समीक्षा कीजिये।

उत्तर– वाल्टर लाभांश की संगति विचारधारा के समर्थक हैं। वाल्टर के अनुसार लाभांश नीति का चुनाव उद्यम के मूल्य को प्रभावित करता है। इस प्रकार संस्था की विनियोग नीति को लाभांश नीति से पृथक नहीं किया जा सकता और दोनों एक–दूसरे से जुड़े होते हैं। वाल्टर के अनुसार संस्था के आन्तरिक प्रत्याय दर (r) तथा उसकी पूँजी की लागत (k) के बीच उपलब्ध सम्बन्ध का अपना महत्व है। इसी सम्बन्ध के आधार पर लाभांश की नीति का निर्धारण किया जाता है और उसी के आधार पर उद्यम के मूल्य को अधिकतम करने का प्रयास किया जाता है।

यदि विनियोग पर प्रत्याय दर पूँजी की लागत से अधिक है तो ऐसी स्थिति में उद्यम के लिये आय का प्रतिधारण उपयुक्त सिद्ध होता है। यदि उद्यम के विनियोग पर प्रत्याशित दर (r) आवश्यक प्रत्याय दर (k) से कम है तो साख बनाये रखने के लिये आय का वितरण लाभांश के रूप में कर देना चाहिये। वास्तव में यदि आन्तरिक प्रत्याय दर (r) अंशधारियों की प्रत्याशा (k) से अधिक है, तो इसका तात्पर्य यह है कि लाभांश उपलब्ध करने पर अंशधारियों द्वारा पुनर्निवेशित की जाने वाली धनराशि आवश्यक प्रत्याय दर (k) से अधिक उद्यम आय अर्जित करने में सक्षम सिद्ध हो रही है।

इस प्रकार से **वाल्टर सिद्धान्त** लाभांश के वितरण अथवा आय के प्रतिधारण को उपलब्ध विनियोग अवसरों से सम्बन्धित करता है। दूसरे शब्दों में पर्याप्त लाभपरक विनियोग अवसर उपलब्ध होने पर उद्यम विनियोक्ताओं की प्रत्याशा (k) से अपेक्षाकृत अधिक आय (r) अर्जित करती है। इस प्रकार के उद्यमों को विकासशील उद्यम के नाम से जाना जाता है। एक विकसित उद्यम के लिये अनुकूलतम भुगतान अनुपात शून्य के बराबर होती है। इस तरह $r > k$ की स्थिति में भुगतान अनुपात में कमी होने पर प्रति अंश बाजार मूल्य में वृद्धि होती है। लेकिन यदि उद्यम के पास आनगिनत विनियोग अवसर उपलब्ध नहीं है और उपलब्ध लाभपरक विनियोग अवसरों का अधिकतम उपयोग उद्यम को सामान्य तो ऐसी स्थिति में उद्यम पूँजी की लागत के बराबर ही विनियोग पर प्रत्याय दर अर्जित करेगी। अर्थात् यह स्थिति $r = k$ का परिचायक है। उद्यम के इस स्थिति में होने पर उद्यम को सामान्य फर्म कहा जाता है। इस स्थिति में अंशों के बाजार मूल्य पर लाभांश नीति का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। अतः यह स्पष्ट

है कि एक सामान्य फर्म के लिये कोई विशेष अनुकूलतम भुगतान अनुपात नहीं होता। उद्योग विशेष में प्रत्येक जगह लाभांश नीति एक ही तरह की होती है। एक अवनति वाले उद्यम की स्थिति में विनियोग पर प्रत्याय दर (r) पूँजी की लागत (k) से कम होती है, क्योंकि कुछ उद्यम ऐसे होते हैं जिनके पास आय को विनियोजित करने के लिये कोई लाभपरक विनियोग अवसर नहीं होते। इस प्रकार के उद्यम के अंशधारियों को आय का लाभांश के रूप में वितरण उत्तम स्थिति में ले आयेगा। अवनति वाले उद्यम से आय प्राप्त करके वे या तो उसको व्यय करेंगे या उसका कहीं रही जगह विनियोग कर अपेक्षाकृत अधिक प्रत्याय दर प्राप्त करेंगे। व्यवहार में इस प्रक्रिया से सम्पूर्ण आय का लाभांश के रूप में वितरण कर अंशों के बाजार मूल्य को अधिकतम किया जा सकेगा। यहाँ पर लाभांश भुगतान अनुपात 100 के बराबर होगा। $r <$ k की स्थिति में भुगतान अनुपात में वृद्धि के साथ–साथ प्रति अंश बाजार मूल्य में वृद्धि होती है।

सूत्र व्यवस्था– वाल्टर ने प्रति अंश बाजार मूल्य के निर्धारण के लिये निम्नलिखित सूत्र दिया है–

$$P = \frac{D + (r/k)(E - D)}{k}$$

जहाँ, P = प्रति अंश बाजार मूल्य D = प्रति अंश लाभांश

E = प्रति अंश आय r = आन्तरिक प्रत्याय की औसत दर

k = पूँजी की लागत या पूँजीकरण की दर।

वाल्टर सिद्धान्त (मॉडल) की मान्यतायें– वाल्टर का लाभांश सिद्धान्त निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है–

(1) उद्यम का समस्त वित्तीयकरण प्रतिधारित आय से किया जाता है। ऋण अथवा नयी समता पूँजी का निर्गमन नहीं किया जाता।

(2) उद्यम द्वारा अतिरिक्त विनियोग किये जाने से उद्यम के व्यावसायिक जोखिम में कोई परिवर्तन नहीं होता, इसलिये आन्तरिक प्रत्याय दर (r) तथा पूँजी की लागत (k) यथास्थिर रहती है।

(3) समस्त आय का वितरण तुरन्त लाभांश के रूप में कर दिया जाता है अथवा उद्यम में आन्तरिक आधार पर पुनर्विनियोजित कर दिया जाता है।

(4) महत्वपूर्ण चरों जैसे प्रति अंश आरम्भिक आय (E) तथा लाभांश (D) में कोई परिवर्तन नहीं होता। सूत्र में प्रति अंश आय तथा लाभांश के मूल्यों में परिवर्तन का रिजल्ट जानने के लिये किया जा सकता है लेकिन एक दिये हुये मूल्य को निर्धारित करने के लिये दिये गये प्रति अंश आय (E) तथा लाभांश (D) में यह मान लिया जाता है कि वे यथास्थिर रहेंगे।

(5) उद्यम शाश्वत आधार पर चलते रहेंगे या उसका जीवन–काल काफी लम्बी अवधि का होगा।

वाल्टर सिद्धान्त की आलोचनायें– वाल्टर के लाभांश सिद्धान्त की मुख्य आलोचनायें निम्नलिखित हैं–

(1) यह सिद्धान्त केवल प्रतिधारित आय के विनियोग को तो महत्व देता है पर बाह्य वित्तीयकरण को कोई महत्व नहीं प्रदान करता है।

(2) यह सिद्धान्त केवल उन उद्यमों में लागू होता है जिनमें समस्त पूँजी समता अंशों पर ही आधारित होती है।

(3) इस सिद्धान्त के अन्तर्गत औसत प्रत्याय दर (r) तथा पूँजी की लागत (k) को स्थिर माना गया है जबकि बढ़े हुये विनियोग की स्थिति में दोनों चरों में परिवर्तन हो जाता है।

(4) यह सिद्धान्त उद्यम के मूल्य पर जोखिम के प्रभाव पर ध्यान नहीं देता।

लघुउत्तरीय प्रश्नोत्तर-

प्रश्न–(1) पूँजी लागत से क्या आशय है? इसकी परिभाषा दीजिये।

उत्तर– पूँजी की लागत का आशय उस मूल्य से है जो पूँजी के उपयोग के लिये चुकाया जाता है। यह वह न्यूनतम दर है जिसे पूँजी पर अर्जित करना प्रबन्धकों के लिये आवश्यक हो जाता है ताकि पूँजी के उपयोग के मूल्य तथा उससे सम्बद्ध अन्य व्ययों की पूर्ति होती रहे। यह लागत प्राप्त की गई पूँजी की खरीद राशि के प्रतिशत के रूप में व्यक्त की जाती है।

(1) प्रो. सोलेमन इजरा के अनुसार– "पूँजी लागत अर्जनों की न्यूनतम दर अथवा पूँजीगत व्ययों की कटौती दर है।"

(2) मिल्टन एच स्पेन्सर के अनुसार– "पूँजी की लागत वह न्यूनतम प्रत्याय दर होती है जिसे एक फर्म कोई विनियोग करने के लिये एक शर्त के रूप में मांग करती है।"

प्रश्न–(2) पूँजी लागत अवधारणा का महत्व बताइये।

उत्तर– पूँजी बजटन में वैकल्पिक परियोजनाओं में सर्वश्रेष्ठ परियोजना का चयन करने के लिये पूँजी की लागत अवधारणा का महत्वपूर्ण स्थान है।

वित्तीय प्रबन्ध के लिये पूँजी की लागत का महत्व निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है–

(1) **अतिरिक्त वित्त की आवश्यकता पर तुलनात्मक अध्ययन–** एक अच्छा वित्तीय प्रबन्धक पूँजी बाजार में होने वाले परिवर्तनों पर दृष्टि रखता है तथा विभिन्न प्रकार के ऋणों पर ब्याज दरों एवं अंश पूँजी पर चल रही सामान्य लाभांश दर आदि का विश्लेषण करता रहता है। उसे इससे यह लाभ होता है कि जब उस फर्म को अतिरिक्त वित्त की आवश्यकता होती है तो वह तुलनात्मक पूँजी लागत ज्ञात करके विभिन्न साधनों का तुलनात्मक अध्ययन करके एक श्रेष्ठ वित्तीय साधन का चयन कर सकता है।

(2) **विनियोग निर्णयों में सहायक–** पूँजी लागत का विचार विनियोग निर्णयों का आधार है। किसी भी विनियोग प्रस्ताव को तभी स्वीकार किया जायेगा जबकि उसको लाभप्रदता उसके लिये दी जाने वाली पूँजी लागत से अधिक है। पूँजी लागत को ध्यान में रखते हुये ही यदि विनियोग सम्बन्धी निर्णय लिया जाता है तो यह निर्णय सर्वोत्तम होता है।

(3) **विस्तार परियोजनाओं की वित्तीय सम्भावनाओं का अध्ययन–** विभिन्न वित्तीय स्त्रोतों की पूँजी लागत का अध्ययन करके प्रबन्ध एक श्रेष्ठ साधन का चयन कर सकता है जिस परियोजना के लिये वित्त की आवश्यकता है उसकी वित्तीय सम्भावनाओं का अध्ययन करके यह ज्ञात किया जा सकता है कि उस परियोजना से न्यूनतम आय हो सकेगी या नहीं। यदि आय की सम्भावना है तो प्रबन्धक को वह परियोजना स्वीकार कर लेनी चाहिये।

(4) **फर्म की पूँजी संरचना का नियोजन–** पूँजी लागत की अवधारणा फर्म की आदर्श पूँजी संरचना के नियोजन में भी सहायक होती है। पूँजी लागत पूँजी संरचना को प्रभावित करती है और स्वयं भी इससे प्रभावित होती है। पूँजी संरचना के नियोजन का दीर्घकालीन उद्देश्य पूँजी लागत को न्यूनतम करना और अंशों के बाजार मूल्य को अधिकतम करना होता है।

चालू सम्पत्तियाँ, चाहें इनकी व्यवस्था दीर्घकालीन पूँजी से की जाये अथवा अल्पकालीन पूँजी द्वारा सभी कार्यशील पूँजी में आती हैं। जे. एस. मिल के शब्दों में, "चालू सम्पत्तियों का योग ही कार्यशील पूँजी होती है।"

(ii) शुद्ध कार्यशील पूँजी– शुद्ध कार्यशील पूँजी चालू सम्पत्तियों एवं चालू दायित्वों का अन्तर होती है, चालू दायित्वों से आशय बाहरी व्यक्तियों के उन दावों से है, जिनका लेखांकन वर्ष में भुगतान हेतु परिपक्व होने की सम्भावना होती है। यदि चालू सम्पत्तियों और चालू दायित्वों की राशि समान हो तो कार्यशील पूँजी की अनुपस्थिति मानी जायेगी। इसके विपरीत यदि चालू दायित्व चालू सम्पत्तियों से अधिक है, तो यह ऋणात्मक कार्यशील पूँजी कहलायेगी। इस विचारधारा के अनुसार चालू सम्पत्तियों के चालू दायित्वों पर आधिक्य को ही कार्यशील पूँजी कहते हैं। गेस्टनबर्ग के शब्दों में, "कार्यशील पूँजी सामान्यतया चालू देनदारियों के ऊपर चल सम्पत्तियो के आधिक्य के रूप में परिभाषित किया जाता है।" हॉगलैण्ड के अनुसार, "कार्यशील पूँजी का अर्थ व्यावसायिक लेखा पुस्तकों में चालू दायित्व एवं चालू सम्पत्तियों के अन्तर से माना जाता है।" वैकल्पिक परिभाषा के रूप में, "शुद्ध कार्यशील पूँजी एक संस्था की चालू सम्पत्तियों का वह भाग है, जिसका अर्थ प्रबन्धन दीर्घकालीन कोषों से किया जाता है।"

(2) **परिचालन चक्र अवधारणा–** यह कार्यशील पूँजी की नवीन अवधारणा है। इस अवधारणा के अनुसार, "कार्यशील पूँजी चालू सम्पत्तियों पर चालू दायित्वों के आधिक्य के रूप में सम्पूर्ण उपक्रम की पूँजी का वह तरल भाग है, जिसकी सामान्य परिचालन चक्र की अवधि में आवश्यकता होती है।" दूसरे शब्दों में उपक्रम की सम्पूर्ण परिचालन अवधि में संचालन की क्रमिक अवस्थाओं में विभिन्न रूपों में जितने नकद धन की आवश्यकता होती है, वही कार्यशील पूँजी कहलाती है।

कार्यशील पूँजी के स्त्रोत

दीर्घकालीन साधन	अल्पकालीन साधन	
	आन्तरिक	बाह्य
1. अंश	1. ह्रास कोष	1. सामान्य व्यापारिक साख
2. ऋण-पत्र	2. करों के लिये प्रावधान	2. व्यावसायिक साख-पत्र
3. संचित कोष एवं अधिशेष	3. उपार्जित व्यय	3. व्यापारिक बैंकों से साख
4. फालतू स्थायी सम्पत्तियों की		4. जन निक्षेप बिक्री
5. चालू दायित्वों का निम्न राशि पर भुगतान		5. संचालकों आदि से ऋण
6. दीर्घकालीन ऋण		6. ग्राहकों से प्राप्त अग्रिम
		7. वित्त संस्थायें
		8. सरकारी सहायता
		9. देशी साहूकार आदि
		10. कर्मचारियों की प्रतिभूति

(अ) कार्यशील पूँजी के दीर्घकालीन स्त्रोत– दीर्घकालीन स्त्रोतों से कार्यशील पूँजी के उसी भाग की वित्त व्यवस्था की जानी चाहिये जिसकी व्यवसाय में लम्बे समय तक आवश्यकता होगी अर्थात् स्थायी या नियमित कार्यशील पूँजी की वित्त व्यवस्था दीर्घकालीन स्त्रोतों से की

प्रायः कम्पनी के अन्तर्नियमों में दिया होता है। वे अन्तर्नियम कम्पनी अधिनियम को व्यवस्था के विरूद्ध नहीं हो सकते।

3. लाभांश का भुगतान केवल लाभों में से– लाभांश के सम्बन्ध में एक सबसे महत्वपूर्ण नियम यह है कि इसका भुगतान केवल लाभों में से ही किया जा सकता है, पूँजी में से नहीं। कम्पनी अधिनियम के अधीन, कम्पनी द्वारा किसी आर्थिक वर्ष के लाभांश की घोषणा अथवा भुगतान (i) ह्रास की व्यवस्था करने के पश्चात् कम्पनी के उस आर्थिक वर्ष के लाभों में से किया जा सकता है। अथवा (ii) जहाँ केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय सरकार ने लाभांश की प्रतिभूति दी है। वहाँ इनके फलस्वरूप प्राप्त होने वाली धनराशि से किया जा सकता है।

इकाई 5

प्रश्न–1. कार्यशील पूँजी को परिभाषित कीजिये। कार्यशील पूँजी के उभरते हुये स्त्रोतों की विवेचना कीजिये।

अथवा

कार्यशील पूँजी से क्या तात्पर्य है? भारत में कार्यशील पूँजी प्राप्त करने के विभिन्न स्त्रोत कौन–कौन से हैं? वर्णन कीजिये।

अथवा

कार्यशील पूँजी को परिभाषित कीजिये। कार्यशील पूँजी की वित्तीय व्यवस्था के स्त्रोतों की व्याख्या कीजिये।

उत्तर– **कार्यशील पूँजी का अर्थ**– शाब्दिक अर्थ से कार्यशील पूँजी शब्द दो शब्दों कार्यशील तथा पूँजी से मिलकर बना है। व्यवसाय में कार्यशील से आशय व्यापार के दिन–प्रतिदिन के संचालन में पूँजी का एक स्वरूप दूसरे स्वरूप में संचारित होने से है, जबकि पूँजी शब्द से आशय व्यावसायिक सम्पत्तियों के मौद्रिक मूल्य से है। इस प्रकार कार्यशील पूँजी से आशय व्यवसाय की कुल सम्पत्तियों के उस भाग से है, जो सामान्य संचालन में एक स्वरूप से दूसरे स्वरूप में परिवर्तित होती रहती हैं।

किन्तु कार्यशील पूँजी की इस व्याख्या से सभी एकमत नहीं हैं। कार्यशील पूँजी के वास्तविक अभिप्राय के सम्बन्ध में लेखापालों, वित्तीय प्रबन्धकों, उपक्रमियों तथा अर्थशास्त्रियों में पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वान चालू सम्पत्तियों के योग को ही कार्यशील पूँजी मानते हैं जबकि अन्य चालू सम्पत्तियों के चालू दायित्वों पर आधिक्य को कार्यशील पूँजी कहते हैं। इसके अतिरिक्त विद्वानों का एक वर्ग ऐसा भी है, जो इसे केवल चक्रशील पूँजी कहना ही उपयुक्त समझता है। अतः कार्यशील पूँजी का वास्तविक आशय समझने के लिये कार्यशील पूँजी की विभिन्न अवधारणाओं को समझना आवश्यक है।

कार्यशील पूँजी की निम्न दो प्रमुख अवधारणायें हैं–

(1) परम्परागत अथवा चिट्ठा अवधारणा (2) परिचालन चक्र अवधारणा।

1. परम्परागत अथवा चिट्ठा अवधारणा– इस अवधारणा के अनुसार कार्यशील पूँजी किसी निश्चित समय बिन्दु पर संस्था की स्थिति प्रदर्शित करती है। इसकी गणना निश्चित तिथि पर बनाये गये चिट्ठे के आधार पर ही जाती है। इस दृष्टि से कार्यशील पूँजी दो प्रकार की मानी जाती है– (i) सकल कार्यशील पूँजी, (ii) शुद्ध कार्यशील पूँजी।

(i) सकल कार्यशील पूँजी– संस्था की चालू सम्पत्तियों का योग ही कार्यशील पूँजी का प्रतिनिधित्व करता है। चालू सम्पत्तियों से आशय उन सम्पत्तियों से है, जिन्हें लेखांकन वर्ष के दौरान रोकड़ में परिवर्तित किया जा सकता है। इस विचारधारा के समर्थक मोड, बैंकर फील्ड, बोनलिले, जे. एस. मिल तथा एडम स्मिथ आदि हैं। इनके अनुसार व्यवसाय की समस्त

(5) वित्तीय स्त्रोतों का तुलनात्मक अध्ययन– वित्त प्रबन्धन के अनेक स्त्रोत हैं किसी समय विशेष पर किस साधन का उपयोग किया जाये इसका निर्णय वित्त प्रबन्धन के विभिन्न साधनों की लागत का तुलनात्मक अध्ययन करके लिया जा सकता है इनमें जिस साधन की पूँजी की लागत कम आती है, उसे चुना जा सकता है। यद्यपि पूँजी की लागत के आन्तरिक, स्वामित्व, नियंत्रण तथा जोखिम जैसे तत्वों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है।

प्रश्न–(3) एक सुदृढ़ लाभांश नीति के आवश्यक तत्व बताइये।

उत्तर– अंशधारियों के अधिशेष व्यवसाय में प्रति धारण तथा वितरण निम्नलिखित घटकों (तत्वों) से प्रभावित होता है–

1. स्थायित्व– लाभांशों के वितरण में स्थिरता का आशय वितरण में नियमितता बनाये रखने से है, यदि कोई कम्पनी एक वर्ष तो काफी अच्छा लाभांश घोषित कर देती है। लेकिन अलगे ही वर्ष लाभांश नहीं बाँट पाती तो इसे अच्छा नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत एक कम्पनी प्रति वर्ष लाभांश देती है भले ही वह मध्यम दर पर हो तो उसके अंशधारी सन्तुष्ट रहेंगे और उसके अंशों में अधिक परिकल्पना नहीं होगी। इस सम्बन्ध में लाभांश सन्तुलन कोष की स्थापना करनी उचित रहती है।

2. लाभांश दरों में क्रमशः वृद्धि– कम्पनी को सदैव इस बात के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये, कि लाभांश दर में कुछ वृद्धि हो, बढ़ते हुये मूल्य स्तर के करण एवं कम्पनी की साख अधिक होने पर अंशधारी भी यह चाहते हैं कि उनकी आय में भी वृद्धि हो। अतः इस दर को थोड़ा–थोड़ा बढ़ाते रहना चाहिये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह वृद्धि कम्पनी की आय में वृद्धि होने पर ही निर्भर करेगी। यदि किसी वर्ष अधिक लाभ हो तो अतिरिक्त लाभांश अथवा अन्तरिम लाभांश भी वितरित किये जाने चाहिये।

3. नकद लाभांशों का वितरण– लाभांश अधिकतर नकदी के रूप में ही दिये जाने चाहिये। लेकिन जब कम्पनी में संचिति कोषों की राशि बहुत अधिक हो जाये तो स्कन्ध लाभांश भी घोषित किया जा सकता है। स्कन्ध लाभांश का वितरण उचित सीमा के अन्दर ही रखना जाना चाहिये, अन्यथा कम्पनी अति पूँजीकरण का शिकार बन सकती है।

4. आरम्भ में कम लाभांश– कम्पनी की स्थापना के प्रारम्भिक वर्षों में कुछ समय तक कम दरों से ही लाभांश घोषित किये जायें। ताकि कम्पनी की वित्तीय स्थिति सुदृढ़ बन सके। बाद में कम्पनी की प्रगति के साथ–साथ इसमें धीरे–धीरे वृद्धि की जा सकती है।

प्रश्न–(4) लाभांश घोषणा एवं वितरण के सम्बन्ध में भारतीय कम्पनी अधिनियम के प्रावधान बताइये।

उत्तर– भारत में लाभांश की घोषणा एवं वितरण के सम्बन्ध में कम्पनी को अपने अन्तर्नियमों, कम्पनी अधिनियम 1956 की धारा 205 तथा 206 एवं सारणी 'अ' के नियमों का पालन करना अनिवार्य है। इन सबके अनुसार इस सम्बन्ध में निम्नलिखित महत्वपूर्ण व्यवस्थायें हैं –

1. पूँजी में से लाभांश को न बांटा जाये– किसी भी अवस्था में लाभांश पूँजी में से नहीं दिया जा सकता। लाभांश वर्ष के लाभों अथवा अन्य किन्हीं अवितरित लाभों में से ही दिया जा सकता है। सारणी 'अ' का नियम 97 पूँजी में से लाभांश वितरण का आशय स्पष्ट करता है।

2. पार्षद सीमानियम तथा अन्तर्नियमों का पालन– यदि विभाजन योग्य लाभ के सम्बन्ध में कम्पनी पार्षद सीमा नियम तथा अन्तर्नियमों में कुछ आदेश दिये हुये हैं, तो उनका पालन किया जाना चाहिये। लाभांश घोषित करने तथा उनके भुगतान करने की रीति का उल्लेख

जानी चाहिये। दीर्घकालीन स्त्रोतों में किस स्त्रोत को अपनाया जाये? यह संख्या की नीति, व्यवसाय की प्रकृति एवं पूँजी बाजार की स्थिति पर निर्भर करता है। सामान्यतः इसके लिये अधिमान अंशों का प्रयोग उचित है। भविष्य में आवश्यकता बढ़ने पर ऋण-पत्रों का प्रयोग किया जा सकता है।

कार्यशील पूँजी के दीर्घकालीन स्त्रोत निम्नलिखित हो सकते हैं-

(1) अंश निर्गमन- नये अंशों का निर्गमन करना कार्यशील पूँजी का मुख्य स्त्रोत है। सामान्य अंशों के निर्गमन से फर्म की आय पर कोई स्थायी भार भी उत्पन्न नहीं होता।

अतः स्थायी कार्यशील पूँजी के लिये अंशों को ही निर्गमित किया जाये।

(2) ऋण-पत्र- अंशों की भांति ऋण-पत्र निर्गमन भी नियमित कार्यशील पूँजी का महत्वपूर्ण स्त्रोत है लेकिन नियमित कार्यशील पूँजी का वित्त पोषण अंशों के द्वारा किया जाय अथवा ऋण-पत्रों के द्वारा, यह प्रबन्धकों के दृष्टिकोण, व्यवसाय की प्रकृति तथा पूँजी बाजार में विद्यमान परिस्थितियों आदि पर निर्भर करता है।

(3) प्रतिधारित लाभ- व्यवसायों से शुद्ध लाभ कार्यशील पूँजी का स्थायी स्त्रोत है। यह एक नियमित एवं लागत रहित साधन है जो व्यवसाय की भावी आयों पर कोई निश्चित भार उत्पन्न नहीं करता।

(4) संचित कोष का अधिशेष- व्यापार के अन्तर्गत बनाये जाने वाले संचित कोषों से भी सम्पत्तियाँ खरीदी जा सकती हैं, उनका प्रतिस्थापन किया जा सकता है अथवा उनमें वृद्धि की जा सकती है।

(5) फालतू सम्पत्तियों की बिक्री- फालतू पड़ी सम्पत्तियों को बेचकर भी कुछ कार्यशील पूँजी की व्यवस्था की जा सकती है लेकिन यह पूँजी का अनियमित स्त्रोत है और प्रबन्ध इस पर पूर्णतः निर्भर नहीं रह सकता।

(6) दीर्घकालीन ऋण- औद्योगिक निगमों, प्रन्यासों तथा विनियोग कम्पनियों आदि से मिलने वाले दीर्घकालीन ऋण भी कार्यशील पूँजी का प्रमुख स्त्रोत हैं।

(ब) कार्यशीत पूँजी के अल्पकालीन स्त्रोत- स्थायी व नियमित कार्यशील पूँजी व्यवस्था करने के लिये उपक्रम को दीर्घकालीन साधनों को अपनाना चाहिये। कार्यशील पूँजी के दीर्घकालीन स्त्रोत निम्नलिखित हो सकते हैं-

(1) दीर्घकालीन ऋण- औद्योगिक निगमों, प्रन्यासों तथा विनियोग आदि कम्पनियों से मिल जाने वाले दीर्घकालीन ऋण भी कार्यशील पूँजी का प्रमुख स्त्रोत हैं।

(2) फालतू सम्पत्तियों की बिक्री- फालतू पड़ी सम्पत्तियों को बेचकर भी कुछ कार्यशील पूँजी की व्यवस्था की जा सकती है परन्तु यह एक सामयिक, अनियमित तथा अविश्वसनीय साधन है और प्रबन्ध इस पर पूर्णतया निर्भर नहीं रह सकता।

(3) चालू दायित्वों का कम पुस्तक मूल्य पर भुगतान- यह भी कार्यशील पूँजी का एक अनावर्ती साधन है। इसके अन्तर्गत ऋणदाताओं से भुगतान करते समय मिल जाने वाली छूट तथा कर आदि के लिये किये गये आर्थिक प्रावधान आते हैं।

(4) प्रतिधारित लाभ- व्यवसायों से शुद्ध लाभ कार्यशील पूँजी का स्थायी स्त्रोत है। यह नियमित एवं लागत रहित साधन है जो व्यापार की आयों पर कोई निश्चित भार उत्पन्न नहीं करता। सस्था के विकास के लिये कार्यशील पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। इसकी पूर्ति प्रतिवर्ष लाभों के एक भाग को व्यापार में प्रतिधारित करके की जा सकती है।

(5) ऋण-पत्र- ऋण-पत्र निर्गमन भी कार्यशील पूँजी का महत्वपूर्ण स्त्रोत है लेकिन नियमित कार्यशील पूँजी का वित्त पोषण अंशों के द्वारा किया जाय अथवा ऋण-पत्रो के द्वारा यह प्रबन्धकों के दृष्टिकोण, व्यापार की प्रकृति तथा पूँजी बाजार में विद्यमान परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

(6) अंश निर्गमन- नये अंशो का निर्गमन करना कार्यशील पूँजी का मुख्य साधन है। सामान्य अंशों के निर्गमन से फर्म की आय पर कोई भार नहीं पड़ता, अतः स्थायी कार्यशील पूँजी के लिये अंशों को निर्गमित किया जाना चाहिये।

प्रश्न-2. कार्यशील पूँजी से आप क्या समझते हैं? इसके उद्देश्य एवं महत्व को स्पष्ट कीजिये।

अथवा

कार्यशील पूँजी का क्या अर्थ है? उन सभी कारणों का वर्णन कीजिये जो किसी व्यावसायिक संस्थान में कार्यशील पूँजी की माँग को प्रभावित करते हैं।

अथवा

कार्यशील पूँजी की प्रकृति व प्रकार को स्पष्ट करते हुये इसके महत्व पर प्रकाश डालिये।

अथवा

कार्यशील पूँजी की अवधारणा समझाइये। कार्यशील पूँजी की मांग को निर्धारित करने वाले तत्वों की व्याख्या कीजिये।

अथवा

कार्यशील पूँजी पर एक टिप्पणी (लेख) लिखिये।

उत्तर- कार्यशील पूँजी से तात्पर्य या आशय- कार्यशील पूँजी से आशय कुल पूँजी के उस भाग से है जो कि नियमित रूप से व्यावसायिक क्रियाओं के सचालन में प्रयोग की जाती है। इसका प्रयोग कार्यकर्ताओं की मजदूरी व वेतन, विज्ञापन, चल-सम्पत्ति के क्रय, उत्पादन व्यय तथा अन्य सामान्य खर्चों के भुगतान में किया जाता है। कार्यशील पूँजी का कार्यकाल स्थायी पूँजी की अपेक्षा कम होता है। इसलिये इसे अल्पकालीन अथवा अस्थायी पूँजी भी कहा जाता है।

कार्यशील पूँजी की परिभाषा

मीड, मॉल्ट एवं फील्ड के अनुसार- ''कार्यशील पूँजी का आशय चालू सम्पत्तियों से है।''

गेस्टनबर्ग के अनुसार- ''कार्यशील पूँजी सामान्यतः चालू दायित्वों के ऊपर चालू सम्पत्तियों के आधिक्य के रूप में परिभाषित किया जाता है।''

हॉगलैण्ड के शब्दों में- ''कार्यशील पूँजी का अर्थ चालू सम्पत्तियों एवं चालू दायित्वों के पुस्तकीय मूल्य के अन्तर से होता है।''

कार्यशील पूँजी की मात्रा को निर्धारित अथवा प्रभावित करने वाले प्रमुख तत्व या घटक निम्नलिखित हैं-

(1) व्यवसाय का स्वरूप- कार्यशील पूँजी की मात्रा को प्रभावित करने वाला सबसे प्रमुख तत्व व्यवसाय का स्वरूप है। रेलवे, सड़क, गैस आदि जनोपयोगी तथा सेवा संस्थाओं में निरन्तर मांग और नकद विक्रय होने से कम कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होती है। इनकी मांग सदा बने रहने से रोकड़-प्रवाह निरन्तर होता रहता है। इसके विपरीत, विलासिता तथा सौन्दर्य प्रसाधन उत्पादन करने वाली संस्थाओं एवं व्यापारिक संस्थाओं मे अधिक कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होती है। इनकी परिवर्तनशील मांग होने से स्टॉक में भी अत्याधिक विनियोग करना पड़ता है।

(2) व्यवसाय का आकार- एक संस्था की कार्यशील पूँजी की मात्रा उसके व्यवसाय के आकार से सीधे-सीधे जुड़ी होती है। छोटे आकार के व्यवसाय हेतु नकद रोकड़ प्राप्य बिल

एवं स्टॉक के लिये अपेक्षाकृत कम पूँजी की आवश्यता होती है तथा बड़े आकार के व्यवसाय हेतु अधिक कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होती है।

(3) उत्पादन प्रक्रिया की अवधि– उत्पादन प्रक्रिया यदि अधिक समय लेने वाली होती है तो स्वाभाविक रूप से कच्चे माल को निर्मित माल का रूप देने में अधिक समय, लागत तथा श्रम लगता है जिसके फलस्वरूप अधिक कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होती है। लेकिन यदि उत्पादन प्रक्रिया की अवधि छोटी होती है तो कम मात्रा में कार्यशील पूंजी की आवश्यकता होती है।

(4) कार्यशील पूँजी–चक्र– कार्यशील पूँजी–चक्र कच्ची सामग्री के क्रय से शुरू होता है और निर्मित माल के रूपान्तरण तथा निर्मित माल के विक्रय से रोकड़ की वसूली के साथ खत्म होता है। कार्यशील पूंजी-चक्र की अवधि जितनी लम्बी होगी, कार्यशील पूंजी की आवश्यकता भी उतनी ही अधिक होगी।

(5) क्रय की शर्तें एवं रीतियां– कच्चा माल तथा अन्य सामान किन महीनों में एवं किन शर्तों पर क्रय किया जाता है इसका भी सीधा प्रभाव कार्यशील पूँजी की मात्रा पर पड़ता है। यदि कच्चे माल की पूरे वर्ष की आवश्यकता को फसल के ही समय एक साथ खरीद कर रख लिया जाता है तो कार्यशील पूँजी की अधिक आवश्यकता होगी। लेकिन यदि पूरे वर्ष स्थानीय बाजार से ही कच्चा माल खरीदा जाता है तो फिर कम कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार से यदि कच्चे माल को विक्रेता से लम्बी अवधि की उधारी पर खरीदा जाता है तो उत्पादन के पश्चात् बेचकर कच्चे माल का भुगतान किया जा सकता है। लेकिन यदि कच्चा माल नकद खरीदना पड़ता है तो फिर अधिक कार्यशील पूँजी की व्यवस्था करनी होगी।

(6) विक्रय की शर्तें– यदि निर्मित माल नकद बेचा जाता है तो कम कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होगी। यदि माल उधार में बेचा जाता है और उसका भुगतान प्राप्त होने में अधिक समय लगता है तो अधिक कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होगी।

(7) व्यवसाय–चक्र– कार्यशील पूँजी की मात्रा को व्यवसाय–चक्र भी प्रभावित करते हैं। तेजी के काल में बिक्री में वृद्धि, मूल्य–वृद्धि तथा व्यवसाय के आशावादी विस्तार आदि के कारण अधिक कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होती है। मन्दी के समय वस्तुओं की मांग कम होने से उनकी बिक्री में कमी आती है, व्यापार में संकुचन होता है जिससे देनदारों से पेमेन्ट वसूली में भी परेशानी आती है। इस स्थिति में कार्यशील पूँजी का अधिकांश भाग बेकार पड़ा रह सकता है।

(8) बैंकिंग सम्बन्ध– ऐसी संस्थायें जो बैंकों से अच्छे तथा मधुर सम्बन्ध विकसित करने में सक्षम होती हैं तथा बैंक की दृष्टि से जिनकी साख अच्छी होती है वे कम कार्यशील पूँजी से भी व्यवसाय संचालित कर सकती हैं। बैंक उन्हें आवश्यकता होने पर तुरन्त वित्तीय सहायता दे सकता है।

(9) लाभांश नीति– यदि कम्पनी उदार लाभांश नीति अपनाती है तो लाभांश देने हेतु उसे अधिक कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होगी। लेकिन यदि कम्पनी नकद लाभांश न देकर उसके स्थान पर बोनस अंशों का निर्गमन करती है तो इससे कम्पनी को कम कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होगी।

(10) व्यवसाय के विकास की दर– प्रत्येक संस्था की कार्यशील पूँजी की आवश्यकतायें उसकी व्यावसायिक क्रियाओं के विस्तार एवं विकास के साथ–साथ बढ़ती जाती हैं। यदि व्यापार के विस्तार तथा विकास की दर धीमी है तो कम कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होगी।

(11) अन्य कारक– कार्यशील पूँजी की आवश्यकता को कुछ अन्य कारक जैसे– मूल्य–स्तर परिवर्तन, प्रबन्धकीय योग्यता, राजनीतिक स्थायित्व, युद्ध की आशंका, आयात–नीति, परिवहन तथा संचार की सुविधा इत्यादि भी प्रभावित करते हैं।

प्रकार– कार्यशील पूँजी के निम्नलिखित प्रकार हैं–

(1) अवधारणा के आधार पर–

(i) सकल कार्यशील पूँजी– इसमें चालू सम्पत्ति में नकद रोकड़, बैंक में जमा, शेष स्टॉक, देनदार एवं पूर्वदत्त भुगतान शामिल किये जाते हैं।

(ii) निबल कार्यशील पूँजी– इसका आशय चालू दायित्वों के ऊपर चालू सम्पत्तियों के आधिक्य से होता है। कई आधुनिक विद्वान निबल कार्यशील पूँजी को ही कार्यशील पूँजी मानते हैं।

(2) आवश्यकताओं के आधार पर– गेस्टनबर्ग ने आवश्यकताओं के आधार पर कार्यशील पूँजी को दो भागों में विभाजित किया है–

(i) स्थायी अथवा नियमित कार्यशील पूँजी– यह व्यवसाय के सामान्य संचालन के लिये नियमित रूप से चालू सम्पत्तियों के रूप में स्टॉक में रखी जाती है। जैसे कच्चे–माल की न्यूनतम मात्रा, स्टॉक में तैयार माल तथा बैंक में न्यूनतम शेष राशि आदि।

(ii) परिवर्तनशील या मौसमी कार्यशील पूँजी– व्यापार को वर्ष के कुछ महीनों में व्यापार की अधिकता के कारण अधिक कार्यशील पूँजी की आवश्यकता भी हो सकती है। जैसे– अनाज के आढ़तिये व्यापारियों को फसल आने के मौसम में अधिक कार्यशील पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। चीनी–उद्योग तथा ऊनी–वस्त्र उद्योग में भी ऐसी ही आवश्यकता पड़ती है।

कार्यशील पूँजी का महत्व

व्यवसाय का संचालन केवल स्थायी सम्पत्तियों हेतु पूँजी व्यवस्था कर लेने मात्र से ही नहीं किया जा सकता। व्यवसाय की सामान्य प्रगति के लिये, स्थिर सम्पत्ति के लिये आवश्यक पूँजी के साथ ही अन्य अनेक सम्पत्तियों के लिये भी आवश्यक पूँजी की व्यवस्था करनी पड़ती है। कच्चा माल खरीदने, निर्माण द्वारा उसे निर्मित माल में परिवर्तित करने, माल को बेचने के लिये उसकी व्यवस्था करने, ग्राहकों को उधार माल देने के लिये भी पूँजी की आवश्यकता होती है। कोई भी कम्पनी, फर्म या संस्था अपने दिये गये वचनों का पालन तथा लिये गये ऋणों का नियमित भुगतान तभी कर सकती है जबकि उसके पास कार्यशील पूँजी पर्याप्त मात्रा में हो। विक्रेताओं के तत्काल भुगतान, ऋण–क्षमता एवं साख में वृद्धि, अच्छे लाभांश के वितरण व अनुकूल अवसरों का लाभ उठाने तथा आकस्मिकताओं का सामना करने के लिये तथा कार्यकुशलता में वृद्धि लाने हेतु कार्यशील पूँजी का अत्याधिक महत्व है।

प्रश्न–3. कार्यशील पूँजी क्या होती है? एक नवीन व्यवसाय की स्थापना पर आवश्यक कार्यशील पूंजी का अनुमान लगाते समय किन–किन बातों को ध्यान में रखना चाहिये?

अथवा

कार्यशील पूँजी क्या होती है? इसके प्रकार समझाइये।

उत्तर– प्रत्येक व्यावसायिक संस्था को दो प्रकार की पूँजी की आवश्यकता होती है– स्थिर पूँजी व कार्यशील पूँजी। व्यवसाय के संचालन में स्थायी रूप से प्रयोग हेतु कुछ सम्पत्तियों की आवश्यकता पड़ती है जिन्हें स्थायी सम्पत्ति कहते हैं और इनमें लगायी गयी पूँजी स्थायी या स्थिर पूँजी कहलाती है। इसके विपरीत, व्यवसाय के संचालन सम्बन्धी दिन–प्रतिदिन की आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु भी कुछ सम्पत्तियों की जरूरत पड़ती है, जिन्हें चल सम्पत्ति कहते है, और इनमें लगायी गयी पूँजी को चालू पूँजी या कार्यशील पूँजी कहते हैं।

परन्तु तकनीकी दृष्टिकोण से कार्यशील पूँजी की परिभाषा के सम्बन्ध में मतभेद चला आ रहा है। वास्तव में दो प्रकार की विचारधाराएँ प्राप्य है, और उन्हें क्रमशः विस्तृत दृष्टिकोण (या सकल कार्यशील पूँजी दृष्टिकोण) व संकीर्ण दृष्टिकोण (या शुद्ध कार्यशील पूँजी दृष्टिकोण) कह सकते है। व्यापक दृष्टिकोण कार्यशील पूँजी के परिमाण पहलू पर बल देता है जबकि संकीर्ण दृष्टिकोण उसके गुणात्मक पहलू को उजागर करता है।

व्यापक दृष्टिकोण के आधार पर कार्यशील पूँजी अल्पकालीन व दीर्घकालीन दोनों प्रकारों के दायित्वों द्वारा अधिग्रहित चल सम्पत्तियों के योग के बराबर होती है। इस प्रकार यह परिभाषा कार्यशील पूँजी की मात्रा या परिमाण पर अधिक जोर देती है। इस परिभाषा के पीछे दो तर्क निहित है। प्रथम, जब हम स्थायी सम्पत्तियों के अधिग्रहण में लगायी गयी पूँजी को स्थायी पूँजी मानते है, तो चल सम्पत्तियों के अधिग्रहण में लगाई गयी पूँजी को कार्यशील पूँजी मानना चाहिये। द्वितीय, चल सम्पत्तियाँ चाहे वे किसी साधन से क्यों न प्राप्त की गयी हो, दिन प्रतिदिन संचालन सम्बन्धी क्रियाओं में प्रयुक्त होती है और उनका रूप परिवर्तित होता रहता है। अतः उन सबको कार्यशील पूँजी ही मानना चाहिये। इस दृष्टिकोण से प्रभावित होकर वार्डिंगटन व डेवे ने कहा है कि किसी भी फण्ड की प्राप्ति को जो चालू सम्पत्ति को बढ़ाता है, कार्यशील पूँजी की संज्ञा दी जाती है।

संकीर्ण दृष्टिकोण के आधार पर चल सम्पत्तियों में से चल दायित्वों को घटाने के बाद जो शेष बचता है, उसे ही कार्यशील पूँजी माना जा सकता है। इस प्रकार यह परिभाषा कार्यशील पूँजी की मात्रा पर जोर न देकर उसके गुणात्मक पहलू पर जोर देती है। इस परिभाषा के अन्तर्गत कार्यशील पूँजी को शुद्ध कार्यशील पूँजी के रूप में भी प्रकट किया जा सकता है।

इस विचारधारा के अनुसार यदि किसी संस्था की चल सम्पत्ति चल दायित्व से अधिक है, तो कार्यशील पूँजी के दृष्टिकोण से संस्था की स्थिति संतोषजनक व सुदृढ़ मानी जा सकती है। यदि संस्था की चल सम्पत्ति व चल दायित्व बराबर है, तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संस्था ने कार्यशील पूँजी के लिये पूर्ण रूप से अल्पकालीन ऋणों का ही सहारा लिया है और दीर्घकालीन फण्ड के स्रोतों का प्रयोग स्थायी सम्पत्तियों के क्रय में ही किया है। स्पष्ट है कि यह स्थिति संस्था की वित्तीय सुदृढ़ता की परिचायक नहीं मानी जा सकती, यदि संस्था की चल सम्पत्ति, चल दायित्व से कम है, तो वित्तीय संकट का प्रतीक माना जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि व्यावसायिक दृष्टि से चल सम्पत्तियों को कार्यशील पूँजी के रूप में माना जा सकता है। क्योंकि सम्पूर्ण चल सम्पत्तियाँ व्यवसाय के संचालन में प्रयोग होती है, परन्तु तकनीकी व लेखांकन दृष्टिकोण से कार्यशील पूँजी को चालू सम्पत्ति व चालू दायित्व के अन्तर के बराबर ही मानना उचित होगा, क्योंकि यह अन्तर की मात्रा ही संस्था की वित्तीय सुदृढ़ता व सन्तोषप्रदता पर प्रकाश डाल सकती है।

कार्यशील पूँजी के प्रकार– साधारणतः कार्यशील पूँजी को दो वर्गों में वर्गीकृत किया जाता है–

(अ) स्थायी या नियमित या स्थिर कार्यशील पूँजी और

(ब) परिवर्तन, मौसमी या अस्थायी या विशिष्ट कार्यशील पूँजी।

(अ) स्थिर कार्यशील पूँजी– चल सम्पत्तियों की आवश्यकता संचालन चक्र से सम्बन्धित है, जो अपने आप में एक सतत् प्रक्रिया है। इस प्रकार चल सम्पत्तियों में विनियोग की मात्रा बढ़ती या घटती रहती है। फिर भी चल सम्पत्तियों का एक न्यूनतम स्तर ऐसा होता है, जो व्यवसाय के संचालन के लिये आवश्यक होता है, चाहे उत्पादन स्तर कुछ भी क्यों न रहे। यह न घटने योग्य न्यूनतम राशि होती है, जो चल सम्पत्तियों के, चलन के लिये आवश्यक होती है। चल सम्पत्तियों में यह न्यूनतम विनियोग स्थायी रूप से व्यवसाय में बना रहता है और इसलिये

इसे स्थायी या स्थिर या नियमित कार्यशील पूँजी कहते है। यह उसी प्रकार स्थायी होती है, जैसे स्थायी सम्पत्तियों में विनियोग होता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस प्रकार की कार्यशील पूँजी का सदा प्रबन्धन स्थायी वित्त स्रोत से किया जाना चाहिये।

(ब) परिवर्तनशील कार्यशील पूँजी– स्थायी कार्यशील पूँजी के अलावा शेष कार्यशील पूँजी की मात्रा उत्पादन व विक्रय में परिवर्तन के अनुसार बदलती रहती है। कार्यशील पूँजी की आवश्यकता मौसमी परिवर्तनों या असाधारण दशाओं के कारण भी बदलती रहती है। बदलती व्यावसायिक क्रियाओं की सफलता हेतु अतिरिक्त कार्यशील पूँजी की आवश्यकता ही परिवर्तनशील कार्यशील पूँजी मानी जाती है। उदाहरण के लिये, कीमत स्तर पर वृद्धि से कच्चे माल के स्टॉक में विनियोग की मात्रा में वृद्धि होगी, गलाकाट प्रतियोगिता, तालाबन्दी, हड़ताल आदि से उत्पन्न समस्याओं का सामना करने हेतु अतिरिक्त कार्यशील पूँजी की जरूरत होगी। विक्रय सम्वर्द्धन हेतु विशिष्ट विज्ञापन व अन्य प्रोत्साहनों हेतु अतिरिक्त कार्यशील पूँजी की आवश्यकता पड़ सकती है।

प्रश्न– कार्यशील पूँजी के प्रबन्ध से क्या आशय है?

उत्तर– कार्यशील पूँजी का प्रबन्ध– व्यवसाय के अन्तर्गत कार्यशील पूँजी की एक पर्याप्त मात्रा आवश्यक होती है। व्यवसाय की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुये कार्यशील पूँजी की मात्रा न तो उससे अधिक होनी चाहिये, और न ही उससे कम। दोनों स्थितियाँ व्यवसाय के लिये हानिकारक सिद्ध होती है। परन्तु कार्यशील पूँजी की मात्रा निर्धारित करने के साथ-साथ हमें यह भी ध्यान में रखना पड़ेगा कि विभिन्न चल सम्पत्तियों में विनियोग का अनुकूलतम स्तर क्या है? और उस विनियोग हेतु अल्पकालीन व दीर्घकालीन दायित्वों के बीच अनुकूलतम मिश्रण क्या हो? अन्य शब्दों में, हमें यह निर्धारित करना पड़ता है कि चल सम्पत्तियों एवं चल दायित्वों का मात्रा स्तर क्या होना चाहिये। इस प्रकार के निर्धारण में संस्था की तरलता और ऋणों की अदायगी के सम्बन्ध में मूलभूत निर्णय शामिल होते हैं। अन्य शब्दों में, हमें यह देखना पड़ता है कि संस्था की तरलता की आवश्यकता क्या है, और विभिन्न चल दायित्वों का भुगतान कब और किस अन्तराल पर करना है? संस्था के पास जितनी चल सम्पत्तियाँ है, उन्हें किस दर से या किस सीमा तक नकद में परिवर्तित कर सकते है। यह इस बात पर निर्भर करेगा कि नकद व बिक्री योग्य प्रतिभूतियों का प्रबन्ध कैसे किया जा रहा है? संस्था की साख नीति एवं विधि क्या है। रकंध का प्रबन्ध व नियन्त्रण किस प्रकार हो रहा है, और स्थायी सम्पत्तियों का प्रबन्ध कैसा है?

यदि संस्था द्वारा स्थायी सम्पत्तियों का प्रबन्ध प्रभावशाली है स्कन्ध पर नियमित नियन्त्रण हो रहा है और साख नीति व विधि वैज्ञानिक है, तो यह कहा जा सकता है कि तरल सम्पत्तियों का कुल सम्पत्तियों में जितना ही अनुपात कम होगा, संस्था के कुल विनियोग पर प्रत्याय की मात्रा अधिक होगी। दूसरी तरफ, चल दायित्वों के द्वारा अर्थ प्रबन्धन करने पर लागत की मात्रा दीर्घकालीन फण्ड की लागत से कम होती है। अतः लाभदायकता के दृष्टिकोण से संस्था के कुल ऋणों में चल दायित्वों का अंश या मात्रा अधिक होनी चाहिये। यही नहीं, अल्पकालीन फण्ड के प्रयोग से संस्था को अधिक लाभ मिल सकता है। क्योंकि ऋण का उस समय भुगतान किया जा सकता है, जब व्यवसाय में उसकी आवश्यकता न हो।

लाभदायकता की मान्यता के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि कुल सम्पत्तियों में चल सम्पत्तियों का हिस्सा कम होना चाहिये और कुल दायित्वों में चल दायित्वों का हिस्सा अधिक होना चाहिये। परन्तु इस सिद्धान्त का पालन करने पर कार्यशील पूँजी की मात्रा न केवल निम्न होगी, बल्कि नकारात्मक भी हो सकती है। अन्य शब्दों में, इस सिद्धान्त के पालन में संस्था के

सामने जोखिम उपस्थित हो सकती है। इस संदर्भ मे जोखिम का अर्थ तकनीकी अशोधन क्षमता से है। कानूनी अर्थ मे, अशोधन क्षमता उस समय उदित होती है, जब सम्पत्तियाँ दायित्व से कम है। तकनीकी अर्थ मे, अशोधन क्षमता का अर्थ उस स्थिति से है, जब संस्था अपने चल दायित्वों को पूरा करने मे असमर्थ हो। जोखिम का मूल्यांकन तभी सम्भव हो सकता है, जब हम संस्था की सम्पत्तियो की तरलता करें। तरलता से आशय सम्पत्तियों को तुरन्त नकद रूप मे परिवर्तित करने की योग्यता से है। इस प्रकार यदि हम चल सम्पत्तियो का हिस्सा कम रखना चाहें, तो यह आवश्यक हो जाता है कि सम्पत्तियो मे तरलता की मात्रा अधिक हो तभी जोखिम की हानि से बचा जा सकता है। वस्तुतः कार्यशील पूँजी की मात्रा निर्धारित करते समय इन सभी पहलूओं पर एकत्रित दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता पड़ती है।

प्रश्न–4. कार्यशील पूँजी का विश्लेषण से क्या आशय है? इसकी तकनीकियों या विधियों का वर्णन कीजिए।

उत्तर– किसी भी संस्था के अन्तर्गत कार्यशील पूँजी न तो आवश्यकता से कम होनी चाहिये, और न ही आवश्यकता से अधिक होनी चाहिये। यह भी स्पष्ट किया गया है कि यदि संस्था में प्रत्येक समय आवश्यकतानुसार पर्याप्त मात्रा में कार्यशील पूँजी बनी रहेगी, तो संस्था का संचालन भी सफलतापूर्वक सम्पादित किया जा सकेगा और विनियोग पर प्रत्याय को अधिकतम बनाया जा सकेगा। अतः वित्तीय प्रबन्ध का सदैव यही प्रयास होता है कि संस्था की आवश्यकता व कार्यशील पूँजी की मात्रा मे संतुलन बना रहे। वित्त प्रबन्धक इस सम्बन्ध मे तभी आश्वासित हो पायेगा, जब न केवल कुल कार्यशील पूँजी में होने वाले परिवर्तनों को ही ध्यान में रखा जाये, बल्कि कार्यशील पूँजी की व्यक्तिगत मदों मे होने वाले परिवर्तनों को भी सावधानी के साथ जाँचा जाये। अन्य शब्दों, में चालू सम्पत्तियों एवं चालू दायित्वों के व्यक्तिगत मदों के सम्बन्ध में सर्तकता से खोज की जाये, ताकि कार्यशील पूँजी पर उचित नियन्त्रण रखा जा सके, और इसकी मात्रा किसी भी समय आवश्यकता से कम या अधिक न होने पाये। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि समय-समय पर कार्यशील पूँजी की पर्याप्तता एवं कुशलता की जाँच करना आवश्यक होगा। जब हम कार्यशील पूँजी के विभिन्न अवयवों की सूक्ष्मता एवं गहन जाँच इस उद्देश्य से करते हैं कि उसकी मात्रा व्यावसायिक आवश्यकताओं से कम है, या अधिक है, तो उसे कार्यशील पूँजी का विश्लेषण कहते है।

विश्लेषण की तकनीकियाँ या विधियाँ– कार्यशील पूँजी के विश्लेषण में सामान्यतः निम्न तकनीकियों का प्रयोग किया जाता है–

1. कार्यशील पूँजी में परिवर्तन की अनुसूची 2. अनुपात विश्लेषण। 3. फण्ड विवरण।

कार्यशील पूँजी के पूर्वानुमान की तकनीकियाँ– किसी भी आगामी अवधि के लिये कार्यशील पूँजी की मात्रा का पूर्वानुमान लगाने के लिये निम्न में से कोई तकनीक या विधि प्रयोग में लायी जा सकती है -

(1) संचालन अथवा परिचालन चक्र रीति– रोकड़, कच्चा माल, निर्मित माल, देनदार व प्राप्त बिल, नकद यही संचालन चक्र होता है। एक संचालन चक्र की अवधि समायोजन करके ज्ञात की जाती है। संचालन चक्र रीति से किसी संस्था की भावी कार्यशील पूँजी का पूर्वानुमान लगाने के लिये एक अवधि के संचालन व्ययों में उसी अवधि के संचालन चक्रों की संख्या से भाग दिया जाता है। इस रीति के प्रयोग हेतु निम्न की गणना आवश्यक होती है– (क) संचालन व्यय, (ब) संचालन चक्र की अवधि।

(2) चालू सम्पत्तियों एवं चालू दायित्वों का पूर्वानुमान रीति– इस रीति के अन्तर्गत हम आगामी अवधि में होने वाले लेन-देनों के आधार पर चालू सम्पत्तियों का रोकड़ लागत का

अनुमान लगाते है और इसी प्रकार चालू दायित्वों का भी अनुमान लगा लेते है। चालू सम्पत्तियों में से चालू दायित्वो को घटा देने पर कार्यशील पूँजी की मात्रा ज्ञात हो जाती है। यदि कार्यशील पूँजी का अर्थ चालू सम्पत्तियो से लगाया गया हो, तो चालू सम्पत्तियों के अनुमानित मूल्य को ही कार्यशील पूँजी मान लिया जाता है।

(3) रोकड़ पूर्वानुमान रीति– इस रीति के अन्तर्गत आगामी अवधि में होने वाली प्राप्तियों एवं भुगतानों का अनुमान लगाया जाता है और अन्तर की रकम रोकड़ अधिक्य या कमी को दर्शाती है। कमी की रकम का कहीं न कहीं से अर्थ प्रबन्ध करना पड़ता है। वस्तुतः यह रीति रोकड़ बजट का ही रूप होती है।

(4) प्रक्षेपी आर्थिक चिट्ठा रीति– इस रीति के अन्तर्गत आगामी अवधि में होने वाले लेन-देनों को ध्यान में रखते हुये विभिन्न प्रकार की सम्पत्तियों एव दायित्वों का अनुमान लगा लिया जाता है। यह अनुमान दी गयी सूचनाओं के आधार पर किया जाता है। सम्पत्तियों एव दायित्वों के अन्तर को कार्यशील पूँजी के रूप में लिया जाता है। पूर्वानुमानित सम्पत्तियों एव दायित्वों के आधार पर एक आर्थिक चिट्ठा बना लिया जाता है, जिसे प्रक्षेपी चिट्ठा कहते है।

(5) लाभ–हानि समायोजन रीति– इस रीति के अन्तर्गत आगामी अवधि में होने वाले लेन-देनों के आधार पर अनुमानित लाभ की गणना कर ली जाती है। इस अनुमानित लाभ में से रोकड़ आगमन व रोकड़ बहिर्गमन का समायोजन करके कार्यशील पूँजी की मात्रा ज्ञात कर ली जाती है। वस्तुतः यह विधि लाभ को रोकड़ आधार पर परिवर्तित करती है।

प्रश्न–5. कार्यशील पूँजी की अपर्याप्तता की जाँच कैसे करेंगे? भारतीय कम्पनियों में कार्यशील पूँजी का वर्णन कीजिये।

अथवा

'अपर्याप्त कार्यशील पूँजी अनर्थकारी स्थिति का प्रतीक होती है जबकि आवश्यकता से अधिक अथवा फालतू कार्यशील पूँजी दण्डनीय अपव्यय की प्रतीक मानी जाती है।' इस कथन की व्याख्या कीजिये।

उत्तर– कार्यशील पूँजी की आवश्यकता– केवल स्थायी पूँजी की व्यवस्था कर लेने मात्र से ही व्यवसाय का संचालन नहीं किया जा सकता। व्यवसाय की सामान्य प्रगति के लिये स्थिर सम्पत्ति के लिये आवश्यक पूँजी के साथ-साथ चालू सम्पत्तियों के लिये आवश्यक पूँजी की व्यवस्था करनी होती है। **कैनेडी एवं मैकमूलन** के अनुसार, "कार्यशील पूँजी का अध्ययन आन्तरिक एवं बाह्य विश्लेषकों के लिये बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसका व्यवसाय के दिन-प्रतिदिन के संचालन से बहुत निकट का सम्बन्ध है। कार्यशील पूँजी की अपर्याप्तता या खराब प्रबन्ध व्यवसाय की असफलताओं का एक प्रमुख कारण है।" कच्चा माल खरीदने, निर्माण प्रक्रिया और उसके निर्मित माल में परिवर्तन करने, माल को बेचने के लिये, उसकी विक्रय व्यवस्था करने, ग्राहकों को उधार माल देने के लिये भी पूँजी की आवश्यकता होती है। इस पूँजी की व्यवस्था अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन दोनों प्रकार के ऋणों द्वारा की जाती है। कार्यशील पूँजी की आवश्यकता निम्नलिखित कार्यों के लिये पड़ती है–

1. कच्चा माल खरीदने के लिये अथवा माल की खरीद के लिये वित्त प्रदान करने के लिये।
2. कच्चे माल को निर्मित माल में परिवर्तित करने तक की समस्त प्रक्रियाओं के वित्त प्रदान करने के लिये।
3. कार्यालय के खर्चों की पूर्ति के लिये।
4. विक्रय व्यवस्था एवं माल के उधार विक्रय के लिये वित्त प्रदान करने के लिये।

5. एक कार्यरत संस्था के रूप में कम्पनी को आत्मनिर्भरता की स्थिति तक पहुँचाने के लिये।

कार्यशील पूँजी की आवश्यकता किसी भी व्यवसाय को इसलिये होती है, क्योंकि उपरोक्त मदों पर व्यय तत्काल किया जाता है, तथा माल को तैयार करके ग्राहकों को उधार देना होता है, किन्तु उसकी वसूली कुछ समय पश्चात् होती है। व्यय एवं आय होने वाले इस अन्तराल के कारण ही संस्था को कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होती है, क्योंकि इस अवधि में पानी, बिजली, वेतन, मजदूरी, किराया, ब्याज आदि कितने ही व्यय निरन्तर होते है। व्यवसाय के प्रारम्भिक काल में आय इतनी अधिक नहीं होती, किन्तु निर्माण कार्य निरन्तर चालू रखना होता है। अतः कम्पनी की आत्मनिर्भरता की अवस्था तक पहुँचाने के लिये भी कुछ अतिरिक्त पूँजी की आवश्यकता होती है।

व्यवसाय का संचालन करने के लिये केवल स्थायी सम्पत्तियों की ही आवश्यकता नहीं होती वरन् व्यवसाय के सामान्य संचालन के लिये कार्यशील पूँजी की भी आवश्यकता होती है। कच्चे माल की अप्राप्ति, निर्मित माल में रूपान्तरण, माल बेचने हेतु विक्रय व्यवस्था करने तथा उधार विक्रय हेतु पूँजी की आवश्यकता होती है। यदि कोई भी संस्था इन कार्यों के लिये समुचित पूँजी का प्रबन्ध नहीं कर पाती है, तो वह सफल नहीं हो सकती। कार्यशील पूँजी की स्थिति व्यवसाय में वही है जो मानव शरीर में हृदय की। जिस प्रकार हृदय दुर्बल हो जाने पर मनुष्य का स्वास्थ्य समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार कार्यशील पूँजी की अव्यवस्था होने पर व्यवसाय भी अवनति की ओर अग्रसर होने लगता है। संस्था को बाजार में अपनी साख बनाये रखने की दृष्टि से भी पर्याप्त कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होती है, क्योंकि संस्था की ऋण प्राप्ति क्षमता को बनाये रखने के लिये प्रारम्भ से ही पर्याप्त कार्यशील पूँजी होनी चाहिये। किसी भी संस्था को पर्याप्त कार्यशील पूँजी की आवश्यकता निम्न कारणों से होती है-

1. विक्रेताओं को तत्काल भुगतान– पर्याप्त कार्यशील पूँजी होने पर संस्था अपने विक्रेताओं को तत्काल भुगतान कर सकती है। इससे उसे नियमित रूप से कच्चा माल प्राप्त करने में कोई असुविधा नहीं होगी और उत्पादन कार्य निर्विघ्न रूप से जारी रखा जा सकता है।

2. नकद छूट का लाभ– संस्था अपने विक्रेताओं से खरीदे गये माल का नकद भुगतान करके नकद छूट प्राप्त कर सकती है। ऐसा करने से लागत मूल्य कम आवेगा, जिसके परिणामस्वरूप संस्था माल के विक्रय मूल्य को कम कर सकती है, तथा अपने ग्राहकों को आकर्षक व्यापारिक छूट दे सकती है।

3. पर्याप्त लाभांश वितरण– कार्यशील पूँजी की कमी वाली संस्था में लाभों का पुनर्विनियोग करके कार्यशील पूँजी में वृद्धि की जाती है। ऐसा करने से अधिक लाभ होने की दशा में भी अच्छे लाभांश वितरित नहीं किये जा सकते। किन्तु यदि संस्था के पास पर्याप्त कार्यशील पूँजी हो, तो लाभों की दशा में आकर्षक लाभांश वितरण कर सकती है।

4. ऋण क्षमता एवं साख में वृद्धि– जिस संस्था में पर्याप्त कार्यशील पूँजी होती है वह संस्था तृतीय पक्षों की दृष्टि से अच्छी वित्तीय स्थिति वाली संस्था समझी जाती है। इससे संस्था को आवश्यकता पड़ने पर तत्काल ऋण लेने में किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। ऋण प्राप्त करने की क्षमता एवं अच्छी साख के कारण संस्था का निर्माण एवं व्यापारिक कार्य निर्विघ्न रूप से निरन्तर चलता रहता है।

5. बैंकों से ऋण प्राप्ति में सुविधा– पर्याप्त कार्यशील पूँजी एवं तरल सम्पत्तियाँ होने पर संस्था की अल्पकालीन शोधन क्षमता उत्तम मानी जाती है। इससे बैंकों से असुरक्षित अथवा

अल्पावधित ऋण लेने में सहायता मिलती है, क्योंकि चालू सम्पत्तियों का चालू दायित्वों पर आधिक्य स्वयं एक उत्तम प्रतिभूति मानी जाती है।

6. अनुकूल अवसरों का लाभ– व्यवसाय में अनेक ऐसे अवसर आते रहते हैं जबकि कोई संस्था उस अवसर का लाभ उठाकर पर्याप्त धन अर्जित कर सकती है। जैसे- अचानक माल पूर्ति का एक बड़ा आदेश प्राप्त हो जाना, कच्चे माल के मूल्य में वृद्धि की सम्भावना आदि। ऐसा वह संस्था तभी कर सकती है, जब उसके पास पर्याप्त कार्यशील पूँजी हो।

7. आकस्मिकताओं का सफलतापूर्वक सामना– पर्याप्त कार्यशील पूँजी होने पर कोई भी संस्था छोटे छोटे संकटों, आकस्मिक घटनाओं अथवा व्यापारिक मंदों का सफलतापूर्वक सामना कर सकती है।

8. कार्यकुशलता में वृद्धि– पर्याप्त कार्यशील पूँजी का संचालकों एवं प्रबन्धकों पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है, जिससे उन्हें अधिक उत्साह से कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। साथ ही कर्मचारियों एवं मजदूरों को समय पर वेतन आदि का भुगतान मिल जाने से वे भी अधिक आत्मविश्वास एवं कार्यकुशलता से कार्य करते हैं। इस प्रकार जहाँ कार्यशील पूँजी से प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों का मनोबल बढ़ता है, वहीं कार्यकुशलता में भी वृद्धि होती है।

9. स्थायी सम्पत्तियों की उत्पादकता में वृद्धि– पर्याप्त कार्यशील पूँजी स्थायी सम्पत्तियों की उत्पादकता में भी वृद्धि करती है। उदाहरणार्थ यदि कच्चा माल, श्रमिक आदि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हो तो मशीनें पूर्ण क्षमता पर कार्य नहीं कर पायेंगी।

यदि कोई कम्पनी भूमि, मशीन, औजार आदि स्थिर सम्पत्ति की व्यवस्था कर ले और व्यवसाय के सामान्य कार्यों के लिये कार्यशील पूँजी की व्यवस्था न कर सके तो व्यवसाय या उद्योग का संचालन सम्भव नहीं होगा। अतः प्रवर्तन की अवस्था में कम्पनी की वित्तीय योजना बनाते समय ही स्थिर पूँजी के साथ-साथ कार्यशील पूँजी के लिये पर्याप्त कोषों की व्यवस्था भी दीर्घकालीन अंशों एवं ऋणपत्रों द्वारा की जानी चाहिये। यही नहीं कार्यशील पूँजी की आवश्यकताओं का सही एवं उचित अनुमान लगाया जाना भी आवश्यक है, ताकि कार्य प्रारम्भ करने के पश्चात् कम्पनी के पास सदैव अपने अल्पकालीन दायित्वों का भुगतान करने के लिये पर्याप्त नकद राशि एवं तरल सम्पत्तियाँ रहें, और आकस्मिक माँग होने पर कम्पनी ऐसी स्थिति में हो कि सरलता एवं शीघ्रता से अल्पकालीन ऋण लेकर समय पर अपने वचनों को पूरा कर सके। दिये गये वचनों का पालन एवं लिये गये ऋणों का नियमित भुगतान सफल व्यवसाय की प्रथम आवश्यकता है, और यह तभी सम्भव है जबकि कम्पनी के पास आवश्यकता के अनुरूप कार्यशील पूँजी की पर्याप्त व्यवस्था हो, तथा उसकी ऋण प्राप्ति क्षमता उत्तम हो।

कार्यशील पूँजी की अपर्याप्तता की जाँच– कम्पनी के दैनिक कार्यों को सुचारू रूप से सम्पन्न करने के लिये तथा कम्पनी की साख को निरन्तर बनाये रखने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है, कि प्रारम्भ से ही पर्याप्त कार्यशील पूँजी की व्यवस्था कर ली जाये। यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि पर्याप्त कार्यशील पूँजी का अर्थ यह नहीं लगाया जाना चाहिये कि आवश्यकता से अधिक पूँजी की व्यवस्था करके उसका कुछ भाग व्यवसाय में सुरक्षित रखा जाये। यदि पर्याप्त पूँजी कम्पनी के लिये लाभदायक है, तो पर्याप्त से अधिक या फालतू कार्यशील पूँजी व्यवस्था के लिये हानिकारक सिद्ध हो सकती है।

कार्यशील पूँजी की आवश्यकताओं का सही एवं उचित अनुमान लगाया जाना भी आवश्यक है, क्योंकि कार्यशील पूँजी अपर्याप्त नहीं होनी चाहिये। कार्यशील पूँजी आवश्यकता से अधिक भी नहीं होनी चाहिये, विशेषकर नकद एवं विक्रय योग्य प्रतिभूतियों के रूप में,

अतिरिक्त वह भी व्यवसाय के लिये उतनी ही नुकसानदायक है जितनी कि अपर्याप्त कार्यशील पूँजी। कार्यशील पूँजी की अधिकता के कारण इनका उपयोग कुशलतापूर्वक नहीं किया जा सकता और व्यवसाय में कम लाभ होगा, क्योंकि उनको लाभ का भुगतान तो व्यवसाय को ही करना पड़ेगा।

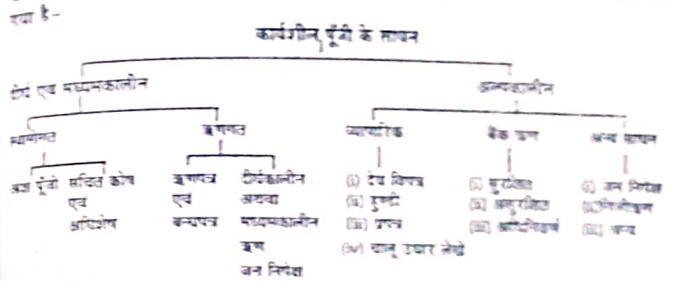
व्यवसाय में आवश्यकता से अधिक कार्यशील पूँजी की उपलब्धि व्यापार के कई कारणवश हो सकती है और क्रियाओं के संचालन में अकुशलता में वृद्धि करती है। व्यवसाय कार्यशील पूँजी की आवश्यकता के बारे में कोई भी राय नहीं दे सकता। जिस प्रकार शरीर के लिए रक्त के लिए दबाव आवश्यक है, उसी प्रकार कार्यशील पूँजी व्यवसाय के लिए। अधिक रक्तचाप शरीर में उत्पन्न हो खतरनाक है, जितना कि कम होना।

कार्यशील पूँजी की आवश्यकता से अधिक एवं कम दोनों ही परिस्थितियाँ व्यवसाय के लिए हानिकारक हैं। व्यवसाय में आवश्यकता से अधिक पूँजी उपलब्ध होने से निश्चित कोष में वृद्धि होती है, जो संस्था के लिये कोई लाभ अर्जित नहीं कराते हैं जबकि आवश्यकता से कम पूँजी संस्था की लाभदायकता को तो हानि पहुँचाती ही है, किन्तु उत्पादन में व्यवधान तथा अकुशलता का भी कारण होती है। आवश्यकता से अधिक पूँजी से संस्था को निम्नलिखित हानियाँ हो सकती हैं -

1. **अनावश्यक संचय का भय**– कार्यशील पूँजी उपक्रम में अधिक होने से संचय के गलत हाथों में चले जाना, क्षय, चोरी तथा अन्य हानियों में वृद्धि की सम्भावना बढ़ जाती है।
2. **दोषपूर्ण साख–नीति**– अत्यधिक कार्यशील पूँजी में साख–नीति दोषपूर्ण हो जाती है तथा लापरवाह अधिकारियों में शिथिलता आ जाती है। इसके परिणामस्वरूप दूषित ऋणों का भार बढ़ जाता है, जो अन्ततोगत्वा लाभों को प्रभावित करता है।
3. **प्रबन्धकीय अकुशलता**– अत्यधिक कार्यशील पूँजी प्रबन्धकीय अकुशलता का परिचायक मानी जाती है, क्योंकि इसमें यह समझा जाता है, कि प्रबन्ध कोषों का पूर्ण उपयोग नहीं कर पा रहा है। साथ ही वे मितव्ययता को भी प्रोत्साहन नहीं दे पाते। अतः इससे प्रबन्धकीय अकुशलता में वृद्धि आती है।
4. **लाभदायकता का ह्रास**– अत्यधिक कार्यशील पूँजी का पूर्ण उपयोग तो होता ही नहीं, बल्कि इस अतिरिक्त राशि पर ब्याज आदि दिया जाता है, जिससे लाभ की मात्रा कम हो जाती है।
5. **अकार्यकुशलता एवं अलाभदायक**– अत्यधिक कार्यशील पूँजी अकुशल प्रबन्ध का परिचायक है। इसलिए अधिकारी यह समझते हैं कि उनके विनियोग पर जितना लाभ मिलना चाहिए था, उतना नहीं मिल पा रहा है। इससे उनके अंशों का मूल्य भी कम हो जाता है और अंशधारी असन्तुष्ट रहते हैं।
6. **सट्टात्मक लाभों की प्राप्ति की सम्भावना**– अत्यधिक कार्यशील पूँजी स्टॉक संचय द्वारा सट्टात्मक लाभों की प्राप्ति की सम्भावना देती है। इससे प्रबन्धक उधार लाभदायक सौदे अवश्य करते हैं किन्तु फलस्वरूप वे जब संस्था सट्टात्मक लाभ अर्जित नहीं कर पाती तो संस्था कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

अतः यह कथन सत्य है, कि "अपर्याप्त कार्यशील पूँजी अनर्थकारी स्थिति की द्योतक है, वहीं आवश्यकता से अधिक अदत्त कालत्तु कार्यशील पूँजी दण्डनीय अपव्यय की द्योतक मानी जाती है।"

भारतीय कम्पनियों को उपलब्ध कार्यशील पूँजी– एक उपक्रम अपनी कार्यशील पूँजी को दो प्रकार के साधनों से प्राप्त करता है -दीर्घ एवं मध्यमकालीन तथा अल्पकालीन। निम्न चित्र में दीर्घकालीन एवं मध्यमकालीन तथा अल्पकालीन कार्यशील पूँजी के सभी स्रोतों को दिखाया गया है -



प्रश्न–6. 'कार्यशील पूँजी का प्रबन्ध किसी कम्पनी के वित्तीय प्रबन्धक के लिये एक निरन्तर बना रहने वाला सिरदर्द है।' इस कथन की व्याख्या कीजिये, तथा वित्तीय प्रबन्ध के क्षेत्र में कार्यशील पूँजी के महत्व की विवेचना कीजिये।

अथवा

किसी निर्माणकारी उपक्रम के लिये कार्यशील पूँजी के प्रबन्ध का क्या महत्व है? कार्यशील पूँजी के आधिक्य एवं अभाव का व्यवसाय के संचालन एवं उसकी उत्पादकता पर क्या प्रभाव पड़ता है?

उत्तर– कार्यशील पूँजी के प्रबन्ध का महत्व– कार्यशील पूँजी के प्रबन्ध का मुख्य तात्पर्य फर्म के चालू दायित्वों व सभी चल सम्पत्तियों का अलग–अलग इस प्रकार सुप्रबन्ध करना है, कि फर्म में आवश्यक शुद्ध कार्यशील पूँजी हर समय उपलब्ध रहे। इस प्रकार कार्यशील पूँजी का प्रबन्ध वास्तव में फर्म की तरलता एवं शोधन क्षमता का प्रबन्ध है। सभी सम्पत्तियों के लिये यह आवश्यक होता है, कि वे सम्पत्तियों के साथ–साथ कार्यशील पूँजी के प्रबन्ध में भी कुशलता का उच्च स्तर प्राप्त करें। कार्यशील पूँजी के प्रबन्ध के चार प्रमुख आयाम हैं -

(i) रोकड़ प्रबन्ध, (ii) प्राप्तियों का प्रबन्ध, (iii) इन्वेण्ट्री प्रबन्ध, (iv) चल दायित्वों का प्रबन्ध।

कार्यशील पूँजी के महत्व को निम्न आधारों पर स्पष्ट किया जा सकता है–

1. पूँजी के महत्वपूर्ण भाग का विनियोग– कुल पूँजी साधनों के एक महत्वपूर्ण भाग का विनियोग चल सम्पत्तियों में होता है। अतः चल सम्पत्तियों के प्रबन्ध पर विशेष ध्यान देना आवश्यक होता है, जिससे कि इनके न्यूनतम आवश्यक स्तर को बनाये रखा जा सके।

2. बारम्बार परिवर्तन– चल सम्पत्तियों के आकार एवं ढाँचे में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, जबकि स्थिर सम्पत्तियों की व्यवस्था एक बार ही की जाती है, तथा उसमें परिवर्तन प्रायः कम होते हैं। दिन-प्रतिदिन का व्यवसाय संचालन चल सम्पत्तियों के आधार पर ही होता है, इनकी पलट-फेर जितनी अधिक होगी उतनी ही अधिक व्यवसाय की मात्रा में वृद्धि की जा सकेगी। अतः वित्तीय प्रबन्धक का बहुत अधिक समय कार्यशील पूँजी के प्रबन्ध पर व्यय होता है। इसीलिये प्रायः कहा जाता है कि कार्यशील पूँजी का प्रबन्ध वित्तीय प्रबन्धक के लिये एक निरन्तर बना रहने वाला सिरदर्द है।

3. छोटे उपक्रम– इनके लिये कार्यशील पूँजी के प्रबन्ध का महत्व और अधिक है, क्योंकि छोटे उपक्रमों में स्थिर पूँजी की मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है, और दीर्घकालीन वित्त की सुविधाओं के अभाव में उन्हें बैंक साख, बाजार साख आदि का सहारा लेकर सम्पत्तियों के आवश्यक स्तर को बनाये रखना होता है।

4. विक्रय की मात्रा से सम्बन्ध– कार्यशील पूँजी की आवश्यकता एवं विक्रय की मात्रा के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। विक्री की मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ व्यवसाय में रोकड़ स्टॉक एवं उधार की बिक्री की मात्रा मे वृद्धि हो जाती है। अतः वित्तीय प्रबन्धक को पूर्व नियोजित विक्रय की मात्रा तथा चल सम्पत्तियों में प्रत्याशित वृद्धि के मध्य सामंजस्य बनाये रखना होता है, जो कि कार्यशील पूँजी के प्रबन्ध में उच्च दक्षता की उपेक्षा चाहता है।

5. जोखिम प्रत्याय भ्रम जाल– चल सम्पत्तियों का अनुकूलतम स्तर से ऊँचा अथवा नीचा स्तर उपक्रम की शोधन क्षमता एवं लाभदायकता को प्रभावित करता है। चल सम्पत्तियों का न्यून स्तर जोखिम में वृद्धि करके शोधन क्षमता में कमी कर देगा, किन्तु साथ ही इससे फर्म की लाभदायकता में सुधार होगा। इसके विपरीत चल सम्पत्तियों का आवश्यकता से ऊँचा स्तर जोखिम को कम करके शोधन क्षमता की स्थिति में सुधार करता है, किन्तु साथ ही पूंजी पर प्रत्याय अथवा लाभदायकता में कमी कर देगा। अतः यह कार्यशील पूँजी के प्रबन्ध का दायित्व है, कि इन दोनों स्थितियों में निरन्तर सन्तुलन बनाये रखने का प्रयास करे।

वित्तीय प्रबन्ध की दृष्टि से चल सम्पत्तियों का सुप्रबन्ध भी उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना की स्थायी सम्पत्तियों का प्रबन्ध। स्थायी सम्पत्तियों में किये गये विनियोग से अधिकतम लाभ तभी प्राप्त हो सकता है, जबकि चल सम्पत्तियों का प्रबन्ध भी कुशलतापूर्वक किया जाये। कम्पनी की सभी चल सम्पत्तियाँ विभिन्न वित्तीय स्त्रोतों से प्राप्त पूँजी के उपयोगों की प्रतीक होती है। प्रत्येक कम्पनी के वित्तीय साधन सीमित होते हैं, और इन पर उसे प्रतिवर्ष पूर्व निश्चित दर से ब्याज एवं लाभांश सम्बन्धी दायित्वों का भुगतान करना होता है। अतः हम यदि इन सम्पत्तियों में लगी विशाल पूँजी की उचित व्यवस्था नहीं करेंगे, तो फर्म की कुल प्रत्याय दर गिर जायेगी और अंशधारियों को हानि होगी। अतः वित्तीय प्रबन्ध की दृष्टि से न केवल स्थायी सम्पत्तियों का प्रबन्ध ही महत्वपूर्ण है, कार्यशील सम्पत्तियों का प्रबन्ध भी बराबर ही महत्व रखता है।

स्थायी सम्पत्तियों के प्रबन्ध में जहाँ उपक्रम की दीर्घकालीन लाभोत्पादकता पर जोर दिया जाता है, वहाँ चल सम्पत्तियों के प्रबन्ध में उपक्रम की तरलता स्थिति तथा समय पर सभी दायित्वो का भुगतान करने की क्षमता बनाये रखने पर बल दिया जाता है। लाभोत्पादकता तथा तरलता स्थिति में स्वभावगत अन्तर है, परन्तु योग्य एवं अनुभवी वित्तीय प्रबन्धक को इन दोनों में समन्वय स्थापित करते हुये, इन दोनों प्रकार की सम्पत्तियों की कुशल एवं सक्षम व्यवस्था करनी चाहिये।

प्रश्न–7. कार्यशील पूँजी की कुशलता के या क्षमता के मापदण्डों का वर्णन कीजिये।

उत्तर– कार्यशील पूँजी की कुशलता के मापदण्ड– चाहे किसी कम्पनी का आकार विशाल हो अथवा छोटा, अंति शीघ्र गति से निरन्तर चलायमान कार्यशील पूँजी के प्रबन्ध की कुशलता के मूल्यांकन के लिये हमें अनेक महत्वपूर्ण मापदण्डों न आधार मानना होगा। ऐसे मूल्यांकन के लिये सतत् परिवर्तनशीलता एवं तीव ग्रति से चलायमानता के महत्वपूर्ण कारकों को दृष्टिगत रखना अत्यन्त महत्वपूर्ण होगा। "केवल मात्र यह पर्याप्त नहीं है, कि आकार की दृष्टि से कम्पनी कितनी दैत्याकार है? महत्वपूर्ण बात यह है कि क्या यह दैत्य आवश्यकता पड़ने पर तीव्र गति से दौड़ने की क्षमता रखता है? इस तीव्र गति से दौड़न की क्षमता को ही

वित्तीय तकनीकी भाषा में तरलता कहा जाता है।" यशस्वी एवं श्रीनिवास द्वारा किये गये एक अध्ययन के अनुसार कार्यशील पूँजी की प्रबन्ध कुशलता के छः मापदण्डों को आधार बनाया जा सकता है–

1. प्रबन्धकों द्वारा समय पर बिलों एवं अन्य देन-दारियों को चुकाने की योग्यता कार्यशील पूँजी के उत्तम प्रबन्ध का सबसे अधिक महत्वपूर्ण मापदण्ड माना जाता है।
2. यदि इन्वेण्ट्री टर्न ओवर अधिक है, तो यह कार्यशील पूँजी के उत्तम प्रबन्ध का परिचायक होगा।
3. विक्रय की अधिकतम राशि प्राप्त करने का अनुमान रोकड़, आवृत्ति अनुमान से लगाया जा सकता है।
4. कम्पनी की उधार सीमा और औसत वसूली अवधि ज्ञात करके उधार की सुविधा प्रदान की जा सकती है।
5. कम्पनी को उधारों का स्वरूप एवं उधार खरीद की सुविधायें किस सीमा तक प्राप्त हैं?
6. प्रबन्धकों को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि कम्पनी में अति बाजार एवं अल्प बाजार की स्थिति उत्पन्न न हो।

उपर्युक्त मूल्यांकन के सन्दर्भ में ही चालू अनुपात, अम्ल परख अनुपात, त्वरित अनुपात, इन्वेण्ट्री टर्न ओवर, औसत वसूली अवधि, रोकड़ टर्न ओवर, कार्यशील पूँजी की आवृत्ति आदि तकनीकों का प्रयोग किया जाता है।

प्रश्न–8. रोकड़ के प्रबन्ध से आप क्या समझते हैं? रोकड़ को निर्धारित करने वाले तत्वों को समझाइये। रोकड़ कोष रखने की प्रमुख आवश्यकताओं का वर्णन कीजिये।

अथवा

रोकड़–कोष से आपका क्या अभिप्राय है? रोकड़ प्रबन्ध के प्रमुख उद्देश्य लिखिये।

अथवा

रोकड़ प्रबन्ध के चरणों पर प्रकाश डालिये एवं रोकड़–कोष के लाभों की विवेचना कीजिये।

अथवा

रोकड़ प्रबन्ध को समझाते हुये रोकड़ प्रबन्ध के प्रमुख कार्यों को लिखिये। रोकड़ प्रबन्ध के आयामों की विवेचना कीजिये।

अथवा

रोकड़ संग्रहण व संविवरण में कुशलता लाने के विभिन्न तरीकों को समझाइये। इस सम्बन्ध में रोकड़–चक्र का महत्व स्पष्ट कीजिये।

उत्तर– रोकड़–कोष व्यवसाय का मूल आधार है। रोकड़–कोष व्यावसायिक जगत की वह धुरी है जिसके चारों ओर अर्थ–जगत घूमता है। इसलिये व्यवसाय को कुशलतापूर्वक चलाने के लिये यह आवश्यक है कि रोकड़ का प्रबन्ध कुशलतापूर्वक किया जाये।

रोकड़–कोष से अभिप्राय– रोकड़–कोषों में रोकड़, बैंक शेष तथा नकद सदैव प्रतिभूतियों को शामिल किया जाता है। नकद हमेशा प्रतिभूतियों में मार्केटेबिल प्रतिभूतियों तथा बैंक में समय अवधि जमा आदि को शामिल किया जाता है।

रोकड़ प्रबन्ध से आशय– किसी भी उपक्रम में वित्तीय प्रबन्धक का मुख्य कार्य रोकड़ का प्रबन्ध करना होता है। वर्तमान आधुनिक व्यवसाय में एक ही उपक्रम की अनेक इकाइयां विभिन्न स्थानों पर स्थापित की जाती हैं। यह प्रबन्धक का कार्य है कि इन सभी इकाइयों में पर्याप्त रोकड़ की व्यवस्था करे। उपक्रम के सफल संचालन के लिये पर्याप्त रोकड़ की सुनिश्चितता नितान्त आवश्यक है। रोकड़ एक ऐसी चल-सम्पत्ति है, जिसके अभाव में किसी भी उपक्रम का सफल संचालन नहीं हो सकता है। रोकड़ में सबसे अधिक तरलता का गुण

होता है। रोकड़ में इस तरलता के गुण के कारण रोकड़ का प्रबन्ध व्यावसायिक प्रबन्धकों की एक प्रमुख समस्या होती है। व्यावसायिक प्रबन्धकों का अधिकांश बहुमूल्य समय रोकड़ प्रबन्ध जैसे जटिल कार्य को पूरा करने में लग जाता है। रोकड़ का प्रबन्ध चल सम्पत्तियों के प्रबन्ध का केन्द्र-बिन्दु है। रोकड़ अथवा नगद कोष का व्यापार में वही स्थान है, जो मनुष्य के शरीर में रक्त का होता है। मनुष्य के शरीर में रक्त के उचित संचालन की भाँति रोकड़ का अन्तर्वाह एवं बहिर्वाह व्यवसाय के स्वास्थ्य को प्रभावित करता है।

जैम्स सी. वैन हार्न के अनुसार, "रोकड़ प्रबन्ध का अभिप्राय रोकड़ उपलब्धता एवं किसी व्यर्थ कोष पर ब्याज आय को अधिकतम करने के उद्देश्य से एक फर्म के मुद्राओं के प्रबन्धन से है।"

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है, कि रोकड़ प्रबन्ध से आशय उपक्रम के लाभों को अधिकतम करने के लिये तरलता एवं लाभदायकता में सन्तुलन बनाये रखना है। अतः रोकड़ कोषों का प्रबन्ध यह सुनिश्चित करता है कि समय पर नगदी की कमी न रहे तथा व्यर्थ कोष व्यवसाय में न पड़ा रहे। अर्थात् व्यवसाय मे रोकड़ का प्रवाह उचित बना रहने के साथ-साथ रोकड़ कोष का उचित प्रयोग सुनिश्चित हो सके।

रोकड़ कोष रखने की आवश्यकता अथवा नगद कोषों की आवश्यकता– एक व्यावसायिक उपक्रम द्वारा रोकड़ अथवा रोकड़-तुल्य सम्पत्तियां क्यों रखी जाती है? इस सम्बन्ध में लार्ड कीन्स ने किसी भी उपक्रम द्वारा रोकड़ शेष अथवा नगद कोष की निम्नलिखित अभिरुचियां बतायी हैं–

(1) **व्यापार सम्बन्धी अभिरुचि–** व्यापार के नियमित संचालन में नगद कोषों की आवश्यकता विभिन्न प्रकार के नगद भुगतानों के लिये होती है। नगद भुगतानो में प्रमुख रूप से क्रय, श्रम, कर एवं लाभांश आदि का भुगतान सम्मिलित है। व्यापार सम्बन्धी अभिरुचि के लिये रखी गयी रोकड़ का आशय नगद कोषों के इस महत्वपूर्ण उद्देश्य से है, जो उपक्रम को अपना व्यापार नियमित रूप से संचालित करने में सहायता प्रदान करता है। इसलिये दैनिक व्ययों को पूरा करने के लिये रोकड़ रखना आवश्यक है। प्रत्येक उपक्रम प्रतिदिन अनेक सौदे करता है जिनके परिणामस्वरूप रोकड़ अन्तर्वाह एवं बहिर्वाह होते हैं। व्यवसाय में कभी-कभी रोकड़ बहिर्वाह, रोकड़ अन्तर्वाह से अधिक हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में व्यावसायिक दायित्वों को पूरा करने के लिये पर्याप्त मात्रा में रोकड़ शेष रखना पड़ता है।

(2) **पूर्व-विचार सम्बन्धी अभिरुचि–** पूर्व-विचार सम्बन्धी आवश्यकताओं से आशय ऐसी अज्ञात एवं आकस्मिक आवश्यकताओं से होता है, जिनका पुर्नानुमान लगाना जटिल होता है, परन्तु व्यवसाय में ये घटित होती रहती हैं। ऐसी आवश्यकताओं में श्रमिकों द्वारा हड़ताल, तालाबन्दी, दुर्घटना, आग लग जाना, कड़ी प्रतिस्पर्धा, कच्चे माल के मूल्य में अचानक वृद्धि होना, देनदारों से धीमी वसूली होना आदि हो सकती हैं। प्रायः किसी भी उपक्रम को ऐसी आकस्मिकताओं का सामना करना पड़ सकता है, जिनके बारे में पहले कोई विचार न किया गया हो और न ही किसी प्रकार के संचय का आयोजन किया गया हो। इसलिये उपक्रम के प्रबन्धकों को पूर्व-विचार सम्बन्धी अभिरुचि पर ध्यान देना चाहिये और ऐसी आवश्यकताओं के लिये रोकड़ कोष रखा जाना चाहिये। माइकेल फर्थ के अनुसार, "रोकड़ प्रवाह जितने अधिक अनिश्चित होंगे, उतने ही अधिक सावधानी बतौर शेष रखने होंगे।"

(3) **कल्पना अथवा सट्टा सम्बन्धी अभिरुचि–** प्रतिभूतियों के मूल्यों में परिवर्तन का लाभ उठाने के उद्देश्य से रखा गया नगद कोष कल्पना अथवा सट्टा सम्बन्धी आवश्यकताओं में

सम्मिलित किया जाता है। प्रतिभूतियों के मूल्यों में परिवर्तन का लाभ समय पर रोकड़ कोष उपलब्ध होने पर ही उठाया जा सकता है। कुछ उपक्रम कल्पना सम्बन्धी अभिरुचि से लाभ कमाने के उद्देश्य से भी रोकड़ कोष रखते हैं। इसका उद्देश्य भविष्य मे लाभप्रद सुअवसरों का लाभ उठाना है। ऐसे सुअवसर कम हुये मूल्यों पर नगद भुगतान करके कच्चा माल क्रय करना अथवा मूल्यों में कमी की आशा में सामग्री क्रय स्थगित करना एवं सुदृढ़ मुद्रा दशाओं के कारण मूल्यों में कमी होने पर प्रतिभूतियों का क्रय करना आदि हो सकते हैं। उपर्युक्त वर्णित सभी दशाओं मे उपक्रम का उद्देश्य कल्पना है, जिसके लिये रोकड़ की आवश्यकता होगी। उपक्रम को इन सुअवसरों का लाभ उठाने के लिये रोकड़ कोष की अतिरिक्त व्यवस्था करनी होगी।

(4) **क्षति पूर्ति सम्बन्धी अभिरुचि–** बैंक अपने उपभोक्ताओं को विभिन्न प्रकार की सेवायें प्रदान करता है। इसलिये बैंक अपने उपभोक्ताओं को खाते में एक न्यूनतम शेष रखने को बाध्य करता है, जिससे बैंक उस न्यूनतम शेष पर ब्याज कमा सके तथा इस प्रकार बैंक अपनी निःशुल्क सेवाओं की कुछ सीमा तक क्षतिपूर्ति कर सके। व्यावसायिक उपक्रम सामान्यतया कल्पना अभिरुचि क्रियाओं में नहीं पड़ते हैं। अतः उपर्युक्त वर्णित आवश्यकताओं में रोकड़ रखने की व्यापार सम्बन्धी अभिरुचि एवं एहतियाती आवश्यकतायें ही प्रमुख है।

रोकड़-स्तर को निर्धारित करने वाले तत्व– एक उपक्रम के पास इतनी रोकड़ आवश्यक रूप से होनी चाहिये कि उसकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके तथा आवश्यकता पड़ने पर अप्रत्याशित घटनाओं का सामना किया जा सके। किसी भी उपक्रम में रोकड़ शेष को निर्धारित करने वाले घटक निम्नलिखित हो सकते हैं–

(1) **उत्पादन प्रक्रिया–** यदि उपक्रम की उत्पादन प्रक्रिया लम्बी या अधिक समय लेने वाली है तो अधिक रोकड़ रखने की आवश्यकता होगी, लेकिन यदि उत्पादन प्रक्रिया छोटी या कम समय लेने वाली है तो कम रोकड़ की आवश्यकता होगी।

(2) **उत्पादन नीति–** यदि उपक्रम अपना उत्पादन वर्तमान माँग के अनुरूप ही करता है तथा कच्ची सामग्री आदि उतनी ही मात्रा में क्रय करता है, जो केवल वर्तमान माँग के लिये आवश्यक है, तो उस उपक्रम को अपेक्षाकृत कम रोकड़ की आवश्यकता होगी, जो एक निश्चित अवधि की उत्पादन माँग के बराबर सामग्री भण्डार में रखने की नीति अपनाती है।

(3) **बैंकों से सम्बन्ध–** यदि उपक्रम के बैंकों से अच्छे सम्बन्ध है तथा अधिविकर्ष आदि की सुविधा उपलब्ध है तो कम रोकड़ रखने की आवश्यकता होगी।

(4) **माल की माँग की प्रकृति–** यदि उपक्रम के माल की माँग बाजार में बनी रहती है तथा माल रोकड़ में या कम समय की उधारी पर बेचा जाता है तो कम रोकड़ की आवश्यकता होगी।

(5) **प्रबन्धकीय नीति–** उपक्रम द्वारा रखे जाने वाले रोकड़ की मात्रा प्रबन्ध की तरलता पसंदगी, जोखिम लेने की क्षमता, उधार क्रय एवं विक्रय नीति तथा स्कन्ध की मात्रा एवं विनियोग सम्बन्धी नीतियों पर निर्भर करती है। यदि प्रबन्धक रोकड़ के सम्बन्ध में सुदृढ़ योजना बनाते है तो कम रोकड़ की आवश्यकता होती है, जबकि इसके विपरीत योजना के अभाव मे अधिक रोकड़ की आवश्यकता होगी।

(6) **उपक्रम की साख स्थिति–** उपक्रम की साख स्थिति रोकड़ आवश्यकताओं को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है। अच्छी साख की स्थिति में उपक्रम को अग्रलिखित कारणों से कम रोकड़ रखने की आवश्यकता होती है–

(i) अच्छी साख वाले उपक्रमों को असामयिक परिस्थितियों में आवश्यकता पड़ने पर विभिन्न स्रोतों से रोकड़ सरलता से उपलब्ध हो जाती है।

(ii) सुदृढ़ साख वाले उपक्रमों को आवश्यक सामग्री क्रय करने के लिये रोकड़ की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि ऐसे उपक्रमों को उधार माल आसानी से उपलब्ध हो जाता है।

जिन उपक्रमों की साख अच्छी नहीं होती, उन उपक्रमों को अधिक रोकड़ रखने की आवश्यकता होती है। यही प्रमुख कारण है, कि उपक्रम को प्रारम्भ में अधिक रोकड़ रखने की आवश्यकता होती है तथा जैसे-जैसे व्यापार का विकास होता है एवं उपक्रम की ख्याति बढ़ती है, वैसे-वैसे तुलनात्मक रूप से कम रोकड़ रखने की आवश्यकता होती है।

(7) क्रय-विक्रय की शर्तें– यदि उपक्रम को आसान शर्तों पर कच्चा माल उपलब्ध हो जाता है तथा निर्मित माल का विक्रय नकद में हो जाता हो अथवा कम समय की उधारी पर बिकता हो, तो कम रोकड़ की आवश्यकता होगी, अन्यथा अधिक रोकड़ की आवश्यकता होगी।

(8) आपातकाल में उधार देने की क्षमता– यदि उपक्रम आकस्मिक दशाओं में उधार माल देने की क्षमता रखता है, तो उसे कम रोकड़ की आवश्यकता होगी। आकस्मिकता के समय उधार देने की क्षमता इन बिन्दुओं पर निर्भर करती है– (i) उपक्रम की साख, (ii) उपक्रम के बैंकों से सम्बन्ध, (iii) अल्पकालीन ऋणों के लिये प्रत्याभूति हेतु उपलब्ध चालू सम्पत्तियों की मात्रा, (iv) उपक्रम की उधार देने की क्षमता प्रचलित मुद्रा बाजार की दशाओं से प्रभावित होती है।

(9) संग्रहण नीति– यदि उपक्रम की संग्रहण नीति कुशल एवं दक्षतापूर्ण है, तो उपक्रम को समय पर रोकड़ उपलब्ध हो सकेगी एवं अशोध्य ऋण भी कम होंगे। अतः उपक्रम को कम रोकड़ रखने की आवश्यकता होगी। इसके विपरीत परिस्थिति में उपक्रम को अधिक रोकड़ रखने की आवश्यकता होगी।

रोकड़ प्रबन्ध के उद्देश्य– रोकड़ प्रबंध का प्रमुख उद्देश्य संस्था के लाभों को अधिकतम करने के लिये तरलता एवं लाभदायकता में सन्तुलन बनाये रखना है। संस्था के पास जितनी अधिक रोकड़ होगी तरलता उतनी ही अधिक होगी लेकिन लाभदायकता उतनी ही कम होगी। जबकि इसके विपरीत संस्था के पास जितने रोकड़ शेष कम होंगे, तरलता उतनी ही कम होगी तथा लाभ पाने की शक्ति उतनी ही अधिक होगी। इसलिये संस्था को तरलता एवं लाभदायकता में सन्तुलन बनाये रखना होता है। इस दृष्टि से रोकड़ प्रबन्ध के प्रमुख दो उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

(1) भुगतान अनुसूची के अनुसार रोकड़ वितरण की आवश्यकता की पूर्ति करना– रोकड़ प्रबन्ध का मूलभूत उद्देश्य भुगतान अनुसूची की आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है। व्यापार के सामान्य संचालन में संस्था को माल-पूर्तिकर्ताओं, अल्पकालीन ऋणदाताओं, कर्मचारियों आदि को निरन्तर भुगतान करने होते हैं। यदि भुगतान सही समय पर न किये जायें तो व्यावसायिक क्रियायें बन्द हो सकती हैं। रोकड़ के बारे में यह उचित ही कहा गया है कि "यह व्यवसाय के सदैव चलने वाले पहियों को चिकनाई प्रदान करने वाला तेल है। इसके बिना व्यावसायिक प्रक्रिया बन्द हो जाने को बाध्य हो जायेगी।" इसलिये संस्था को रोकड़ संवितरण की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये पर्याप्त रोकड़ शेष रखने चाहिये, क्योंकि पर्याप्त रोकड़ शेष रखने से संस्था को अग्रलिखित लाभ प्राप्त हो सकते हैं–

(i) **व्यापारिक छूट का लाभ–** पर्याप्त रोकड़ शेष रखने वाली संस्थाओं को समय पर भुगतान करने के फलस्वरूप नकद छूट का लाभ मिलता है, जिससे संस्था की उत्पादन क्षमता एवं लाभों में वृद्धि होती है।

(ii) **व्यावसायिक सुअवसरों का लाभ–** पर्याप्त रोकड़ शेष वाली संस्थायें व्यावसायिक सुअवसरों जैसे- बाजार में कच्चे माल के मूल्यों में कमी होने पर माल का स्टॉक करना, समृद्धि काल में व्यवसाय का विस्तार करना इत्यादि का लाभ प्राप्त कर सकती है।

(iii) **बैंकों एवं ऋणदाताओं से अच्छे सम्बन्ध–** पर्याप्त रोकड़ वाली संस्थाओं के साथ बैंक एवं ऋणदाता अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने के लिये उत्सुक होते है। ऐसी संस्थायें आवश्यकता अनुसार उचित ब्याज दर पर ऋण प्राप्त कर सकती हैं।

(iv) **साख बनाये रखना–** जिन संस्थाओं के पास पर्याप्त रोकड़ शेष होते है, उनकी बाजार में अच्छी साख रहती है, जिससे उन्हें उचित कीमत पर माल तथा आवश्यकता पड़ने पर ऋण उपलब्ध हो जाता है।

(2) **रोकड़ शेष के रूप में बँधी राशि के स्तर को न्यूनतम रखना–** रोकड़ प्रबंध का दूसरा महत्वपूर्ण उद्देश्य रोकड़ शेष के रूप में फँसी राशि को न्यूनतम करना है। रोकड़ शेष को न्यूनतम रखने में वित्तीय प्रबंध को दो विरोधी पहलुओं का सामना करना होता है। उच्चतर रोकड़ शेष अन्य लाभों के साथ उचित अदायगी को सुनिश्चित करता है, लेकिन इससे रोकड़ शेष का एक महत्वपूर्ण भाग बेकार पड़ा रहता है। न्यूनतम रोकड़ शेष के फलस्वरूप संस्था को भुगतान अनुसूची की पूर्ति में कठिनाई हो सकती है, इसलिये वित्तीय प्रबंधक को सभी लाभ-हानियों को ध्यान में रखते हुये रोकड़ शेष को अनुकूलतम स्तर पर रखना चाहिये।

रोकड़ कोष के चरण अथवा आयाम– रोकड़ कोष व्यवसाय का मूल आधार है। रोकड़ कोष ही व्यवसाय जगत की वह धुरी है जिसके चारों और अर्थ-जगत चक्राकार घूमता है। अतः व्यवसाय को कुशलतापूर्वक चलाने के लिये यह आवश्यक है कि रोकड़ का प्रबन्ध कुशलतापूर्वक किया जाये। रोकड़ प्रबन्ध में निम्नलिखित चार बातों को शामिल किया जाता है, जिन्हें रोकड़-प्रबन्ध के चरण अथवा आयाम भी कहा जा सकता है-

(1) **रोकड़ नियोजन–** यदि रोकड़ आगमों एवं रोकड़-निर्गमों में लगातार सामंजस्य बना रहे तो रोकड़ नियोजन का कार्य सरल हो जाता है, लेकिन कतिपय जनोपयोगी सेवाओं को छोड़कर अन्य उपक्रमों में रोकड़ के आगमों एवं निर्गमों में पूर्ण सामंजस्य की स्थिति सदैव नहीं दिखाई देती है।

(2) **रोकड़ आगमों का नियंत्रण–** यह वस्तुतः प्राप्य रकमों की उचित समय पर वसूली समस्या है। बड़े निगमों में जितना व्यवसाय विस्तृत क्षेत्रों तक फैला होता है, उनके सामने यह समस्या होती है कि किस प्रकार चैकों की प्राप्तियाँ कम से कम समय में तथा बैंकों से उनकी क्लीयरेन्स कम समय में हो। लॉक-बाक्स प्रणाली के द्वारा यह कार्य बैंकों द्वारा सरलता से किया जा सकता है। विभिन्न नगरों में बैंक इन लॉक बॉक्सों से प्रतिदिन चैक एकत्रित करके ग्राहकों के खातों में जमा करते रहते हैं।

(3) **रोकड़ निर्गमों का नियंत्रण–** यह वस्तुतः भुगतानों को नियमित एवं नियन्त्रित करने की समस्या है। दिन-प्रतिदिन के भुगतान सदैव कोई बड़ी समस्या उत्पन्न नहीं करते, क्योंकि उनकी पूर्ति दैनिक रोकड़ आगम से की जाती है। उधार खरीद का भुगतान सदैव उधार बिक्री की वसूली में से होता रहता है। लेकिन ब्याज, टैक्स, किराया तथा पूँजीगत व्यय से सम्बन्धित रोकड़ निर्गम सामान्य आगम के आधार पर नहीं किये जा सकते हैं। इसलिये पूर्ण नियोजित

ढंग से इसके लिये आन्तरिक एवं बाह्य स्रोतों से रोकड़ की व्यवस्था करके उन्हें पूरा किया जाता है।

(1) **अतिरिक्त रोकड़ विनियोग–** वर्ष के सात महीनों में इनके यहाँ अतिरिक्त रोकड़ एकत्रित हो जाती है जिसका विनियोग ऐसी मदों में किया जाना चाहिये जो अल्पकालीन हो, जिससे वर्ष के अन्य पाँच माह में उन विनियोगों को तरलीकृत करके रोकड़ की कमी को पूरा किया जा सके। ये रकम तीन से लेकर छः महीने के ब्याज खाते में डाली जा सकती है या अन्य सरकारी प्रतिभूतियों में भी लगाई जा सकती है। इसलिये विनियोगों की मदों का चुनाव सावधानी के साथ किया जाये। ये मदें ऐसी होनी चाहिये जो अल्पकालीन होते हुये भी सुरक्षा एवं तरलता की दृष्टि से सन्तोषजनक हो।

पर्याप्त रोकड़ कोष के लाभ (महत्व)– प्रत्येक उपक्रम के लिये रोकड़ का अनुकूलतम स्तर रखना आवश्यक होता है। पर्याप्त रोकड़ कोष के प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं–

1. **उत्पादन में निरन्तरता बनाये रखने के लिये–** यदि किसी सस्था के पास पर्याप्त मात्रा में रोकड़ कोष नहीं है तो कच्चे माल का भुगतान, व्ययों का भुगतान तथा अन्य दायित्वों का भुगतान समय पर नहीं किया जा सकता है, जिससे उत्पादन कार्य मे बाधा उपस्थित होती है। उत्पादन कार्य में निरन्तरता बनाये रखने के लिये पर्याप्त रोकड़ कोष का होना आवश्यक है।
2. **ख्याति बनाये रखने के लिये–** पर्याप्त रोकड़ कोष से साख में वृद्धि होती है। यदि कोई व्यावसायिक संस्था जल्दी से अपने दायित्वों का भुगतान करती है तो बाजार में उसकी अच्छी साख जम जाती है। पर्याप्त रोकड़ कोष से साख में वृद्धि होती है।
3. **रोकड़ बट्टे का लाभ लेने हेतु–** अगर किसी व्यावसायिक संस्था के पास पर्याप्त मात्रा में रोकड़ कोष है तो वह रोकड़ बट्टे (कैश डिस्काउंट) का लाभ उठा सकती है। रोकड़ कोष का विनियोजन बट्टे का लाभ लेने के लिये किया जा सकता है, जिससे उपक्रम अधिक लाभ कमा सकता है।
4. **अच्छे बैंक सम्बन्ध बनाये रखने हेतु–** सामान्यतः बैंक उन्हीं व्यवसायियों से अच्छे सम्बन्ध बनाने को उत्सुक रहते हैं, जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी हो एवं जिनके पास पर्याप्त मात्रा में रोकड़ कोष हों। जिन संस्थाओं की साख अच्छी है, वे संस्थायें बैंकों से अच्छे सम्बन्ध बना सकती हैं।
5. **लाभदायक अवसरों का लाभ उठाने हेतु–** जिन संस्थाओं के पास पर्याप्त मात्रा में रोकड़ कोष होते हैं, वह तेजी के समय लाभदायक अवसरों का लाभ ले सकती है। जिन संस्थाओं के पास पर्याप्त मात्रा में रोकड़ कोष उपलब्ध होता है, वह संस्थायें लाभदायक अवसरों का भरपूर लाभ उठाती हैं।
6. **संस्था के विकास एवं विस्तार हेतु–** संस्था के विकास एवं विस्तार के लिये भी पर्याप्त रोकड़ कोषों का होना बहुत आवश्यक होता है। जिन संस्थाओं के पास पर्याप्त मात्रा में रोकड़ कोष होता है, वह संस्थायें अपना विकास एवं विस्तार आसानी से कर सकती हैं।
7. **अप्रत्याशित परिस्थितियों का सामना करने के लिये–** जिन उपक्रमों के पास पर्याप्त मात्रा में रोकड़ कोष उपलब्ध रहता है, वह उपक्रम अप्रत्याशित परिस्थितियों का सामना आसानी से कर सकते हैं।
8. **कार्यक्षमता में वृद्धि–** किसी भी व्यवसाय को उचित ढंग से संचालित करने के लिये पर्याप्त रोकड़ कोष का होना अत्यन्त आवश्यक है। उपक्रम के पास पर्याप्त मात्रा में रोकड़ कोष होने पर श्रमिकों का समय पर भुगतान किया जा सकता है, इसके साथ ही साथ सामग्री का भी समय पर क्रय किया जा सकता है। पर्याप्त रोकड़ कोष के कारण उत्पादन कार्य निरन्तर चलता रहता है, तो कर्मचारियों के मनोबल में वृद्धि होती है, जिससे उपक्रम की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है।
9. **उपक्रम का अस्तित्व बनाये रखने के लिये–** उपक्रम का अस्तित्व रोकड़ कोषों की अपर्याप्तता के कारण खतरे मे पड़ सकता है। रोकड़ की कमी के कारण कुछ उपक्रम तो बन्द ही हो जाते हैं। इसलिये उपक्रम का अस्तित्व बनाये रखने के लिये पर्याप्त रोकड़ कोषों का होना अत्यन्त आवश्यक होता है।

प्रश्न–9. स्कन्ध प्रबन्ध (नियंत्रण) से क्या आशय है? एक निर्माणी संस्था में स्कन्ध रखने की आवश्यकता बताइये।

अथवा

स्कन्ध नियन्त्रण का अर्थ समझाइये तथा इसके उद्देश्यों की विवेचना कीजिये।

उत्तर– स्कन्ध अधिकाश उपक्रमों की चालू सम्पत्तियों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है। कार्यशील पूँजी में स्कन्ध का अनुपात प्रायः 30% से लेकर 80% तक होता है। अतः स्कन्ध में उपक्रम की पर्याप्त पूँजी विनियोजित रहती है। इसलिये इसका उचित नियंत्रण, नियोजन एवं प्रबन्ध अत्यन्त आवश्यक है।

स्कन्ध नियंत्रण का अर्थ– स्कन्ध नियंत्रण शब्द दो शब्दों 'स्कन्ध' तथा 'नियंत्रण' से मिलकर बना है। अतः स्कन्ध नियंत्रण का अर्थ समझने के लिये यह आवश्यक है, कि पहले इन दोनो शब्दो का अर्थ अलग-अलग समझना आवश्यक होगा।

स्कन्ध का अर्थ– स्कन्ध शब्द का अभिप्राय एक उपक्रम द्वारा विक्रय किये जाने वाले उत्पाद एवं उस उत्पाद को निर्मित करने वाले घटकों के संचय से है। अर्थात् स्कन्ध का आशय उन सम्पत्तियों से है, जो व्यापार के सामान्य संचालन में भविष्य में विक्रय की जा सके। उपक्रम मे इस प्रकार की सम्पत्तियाँ जो स्कन्ध के रूप मे रखी जाती है, तीन प्रकार की होती है–

(i) **कच्चा माल एवं आपूर्ति–** जिन्हे भावी उत्पादन के लिये एकत्रित किया जाता है। उदाहरण के लिये– सूती वस्त्र उद्योग में कपास अथवा रुई, तेल उद्योग मे तिलहन, मूंगफली आदि।

(ii) **अर्द्ध-निर्मित माल–** जो न तो कच्चा माल ही है तथा न निर्मित माल, अपितु उत्पादन प्रक्रिया के विभिन्न चरणों मे अर्द्ध-निर्मित अवस्था में है, उदाहरण के लिये– सूती वस्त्र उद्योग में कताई, बुनाई, धुनाई, छपाई आदि प्रक्रियाओं मे शामिल माल।

(iii) **निर्मित माल–** जो उपभोक्ताओं को बेचने के लिये समस्त उत्पादित माल में से रखा जाता है, उदाहरण के लिये– सूती वस्त्र उद्योग में कपड़ा एवं कुछ दशाओं में सूत।

कच्चे माल एवं अर्द्ध-निर्मित माल का स्कंध उपक्रम में उत्पादन प्रक्रिया को सरल बनाता है, इसके विपरीत निर्मित माल के स्कंध से विपणन क्रियाओं का सफलतापूर्वक संचालन किया जाता है। इस प्रकार स्कन्ध उपक्रम में उत्पादन एव माल के उपयोग के बीच एक कड़ी का कार्य करता है।

नियंत्रण का अर्थ– स्कंध के सम्बन्ध में 'नियंत्रण' शब्द का उपयोग दो अर्थों में किया जाता है। प्रथम, इकाई अथवा भौतिक नियंत्रण तथा द्वितीय मूल्य नियंत्रण। उपक्रम में स्कंध के भौतिक नियंत्रण का अभिप्राय अच्छी क्रय व्यवस्था, भण्डारण व्यवस्था, सामग्री की सुरक्षा, चोरी, गबन, छीजन से बचाव आदि बातों से लगाया जाता है। उपक्रम में क्रय एवं उत्पादन विभाग का हित उत्पादन के लिये आवश्यक मात्रा में सामग्री की व्यवस्था करने से होता है।

इसलिये इनके दृष्टिकोण से स्कंध-नियंत्रण का अभिप्राय इकाई अथवा भौतिक नियंत्रण से है। मूल्य नियंत्रण की दृष्टि से स्कंध नियंत्रण का आशय स्कंध में विनियोजित पूँजी का कुशल प्रबन्ध करना होता है। वित्तीय प्रबन्धक इसी दृष्टिकोण को अपनाता है। इसलिये वह स्कंध में विनियोजित पूँजी, लागत एवं लाभ पर विचार-विमर्श करता है। गॉडेन बी. काक्लन के अनुसार, "स्कंध नियंत्रण वह प्रक्रिया है, जिसके अन्तर्गत स्टॉक में रखी सामग्री एवं पुर्जों में विनियोग का प्रबंध द्वारा निर्धारित स्कंध नीति के अनुसार पूर्व निर्धारित सीमाओं में नियमन किया जाता है।"

संक्षेप में स्कन्ध नियंत्रण का आशय कच्चे माल एवं आपूर्तियों, अर्द्ध-निर्मित माल की मात्रा तथा स्कन्ध में विनियोजित पूँजी के कुशल प्रबन्ध से होता है। स्कन्ध के प्रबन्ध में दो आधारभूत समस्यायें सन्निहित हैं-

(i) उपक्रम में कुशल एवं निर्विघ्न उत्पादन तथा विक्रय क्रियाओं के लिये पर्याप्त मात्रा में स्कन्ध बनाये रखना।

(ii) उपक्रम की लाभदायकता में वृद्धि करने के लिये स्कन्ध रखने से सम्बन्धित प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष लागतों को कम करके स्कन्ध में न्यूनतम विनियोग बनाये रखना।

स्कन्ध रखने की आवश्यकता अथवा महत्व- किसी व्यावसायिक उपक्रम के लिये विभिन्न प्रकार के स्कन्ध रखने से पूँजी विनियोजित होती है, संग्रहण की लागत तथा परिवहन लागत के रूप में व्यय करना पड़ता है। इन सभी के बावजूद भी प्रत्येक व्यावसायिक उपक्रम पर्याप्त मात्रा में स्कन्ध रखता है। ऐसा वह निम्नलिखित कारणों से करता है-

(1) **अविरत उत्पादन के लिये-** प्रत्येक उपक्रम में उत्पादन कार्य को निर्विघ्न रूप से निरन्तर जारी रखने के लिये कच्चे माल की निरन्तर पूर्ति की आवश्यकता होती है। माल का आदेश प्रदान करने एवं प्राप्त करने में कुछ समय लगता है। अनेक बार हड़ताल, परिवहन में अवरोध एवं सामग्री अभाव के कारण समय पर कच्चा माल प्राप्त करना जटिल हो जाता है। इन समस्त समस्याओं से बचने के लिये उपक्रम को पर्याप्त मात्रा में कच्चे माल का स्कन्ध रखना पड़ता है, जिससे उत्पादन निर्बाध गति से चलता रहे।

(2) **आदेश लागतें कम करना-** उपक्रम में स्कन्ध रखने का प्रमुख उद्देश्य क्रय एवं उत्पादन क्रियाओं को पृथक करना है। यदि कच्ची सामग्री का स्कन्ध नहीं रखा जाता तो उपक्रम को प्रतिदिन माल क्रय करना एवं प्रतिदिन उपभोग करना वाला नियम अपनाना होता है। ऐसा करने से माल के अनेक आदेश देने पड़ते हैं। माल का आदेश देने के लिये फार्म मुद्रित करने, डाक से भेजने, माल प्राप्ति पर उसे स्वीकार करने, जांच एवं गणना करने आदि पर कुछ व्यय करना पड़ता है। यदि उपक्रम अनेक छोटे-छोटे आदेशों के स्थान पर कुछ बड़े आदेश प्रेषित करता है तो आदेश देने की लागतों में बचत होती है।

(3) **मात्रा छूट पाने के लिये-** यदि उपक्रम पर्याप्त मात्रा में स्कन्ध रखता है, तो बड़ी मात्रा में क्रय करने पर बट्टे का लाभ प्राप्त होता है। इसके साथ ही साथ संभावित मूल्य वृद्धि का लाभ भी प्राप्त होता है। अनेक बार पूर्तिकर्ता सामान्य आवश्यकता से दो गुना अथवा तीन गुना माल क्रय करने पर विशेष छूट प्रदान करता है। इस छूट के कारण माल का कम भुगतान करके उपक्रम अपने लाभों में वृद्धि कर सकता है, इसके विपरीत बट्टे की राशि स्कन्ध रखने की लागत से कम है।

(4) **बिक्री की हानि से बचना-** यदि उपक्रम के पास विक्रय के लिये माल नहीं है तो वह विक्रय के अवसर गँवा देगा। तत्काल सुपुर्दगी चाहने वाले उपभोक्ता अन्य प्रतियोगियों से माल क्रय कर लेंगे अथवा सुपुर्दगी तक इंतजार करने के बजाय माल नहीं क्रय करना ही पसंद

करेंगे। इसलिये उपभोक्ताओं को तत्काल सेवा एवं माल की सुपुर्दगी प्रदान करने के लिये उचित मात्रा में स्कन्ध रखना आवश्यक है।

(5) **क्षमता का उपयोग-** उपक्रम को अपनी उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपयोग करने के लिये भी पर्याप्त मात्रा में कच्चे माल का स्कन्ध रखना पड़ता है। उपक्रम में यदि माल की कमी के कारण क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता तो इससे उत्पादन लागत में भी वृद्धि होती है, क्योंकि लागत के कुछ तत्व पूर्ण उत्पादन क्षमता के लिये होते हैं। क्षमता के आंशिक उपयोग पर इनमें किसी भी प्रकार की कमी संभव नहीं होती है। इसलिये इन समस्त हानियों से बचने के लिये पर्याप्त स्कन्ध रखना आवश्यक है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है, कि उपक्रम को पर्याप्त स्कन्ध रखना चाहिये। यदि स्कन्ध की मात्रा अपर्याप्त है तो उपक्रम उपर्युक्त लाभों से वंचित रह जायेगा तथा कठिनाइयों का सामना करना होगा। लेकिन स्कन्ध रखने का आशय यह नहीं है कि वह आवश्यकता से अधिक माल को एकत्रित करे।

स्कन्ध प्रबन्ध या नियन्त्रण के उद्देश्य- स्कन्ध नियन्त्रण के दो आधारभूत उद्देश्य हैं प्रथम, स्कन्ध विहीनता की स्थिति से बचने के लिये समस्त स्कन्ध का पर्याप्त स्टॉक रखना तथा दूसरा, स्कन्ध की वहन लागतों को कम करने के लिये स्कन्ध में अत्यधिक विनियोग से बचना है। अन्य शब्दों में, स्कन्ध नियन्त्रण का प्रमुख उद्देश्य स्कन्ध विहीनता की लागत तथा इसके वहन करने की लागत को कम करना है। स्कन्ध नियन्त्रण के उद्देश्य निम्नलिखित हैं-

(1) ग्राहकों को अच्छी सेवायें प्रदान करना।
(2) स्कन्ध में अत्यधिक विनियोग से बचना और वाहन लागतों को कम करना।
(3) सही समय पर अच्छी किस्म की पर्याप्त मात्रा में सामग्री उपलब्ध कराकर संस्था की निर्माण कुशलता में वृद्धि लाना।
(4) स्कन्ध-विहीनता एवं उत्पादन में रुकावट से बचने के लिये आवश्यक मात्रा में सामग्री की पूर्ति को निश्चित करना।
(5) सामग्री के क्रय में मितव्ययिता लाना।
(6) प्रबन्धकों को स्कन्ध के लिये निर्णय लेने की समस्या से छुटकारा दिलाना।
(7) संस्था को आकस्मिक अवसरों से लाभान्वित होने का अवसर प्रदान करना।
(8) उत्पादन क्षमता के पूर्ण उपयोग को सम्भव बनाना।
(9) स्कन्ध के असामान्य क्षयों तथा चोरी को रोकना।

प्रश्न-10. प्राप्तियों (प्राप्यों) का प्रबन्ध से क्या आशय है? प्राप्तियों के प्रबन्ध में किन नीतियों का प्रयोग किया जाता है?

अथवा

प्राप्तियों (प्राप्यों) के निवेश के आकार के निर्धारक तत्व क्या हैं? इस निवेश को समुचित सीमा में रखने के लिये कौन-सी पद्धति उपयुक्त है?

अथवा

किसी कम्पनी में प्राप्यों के प्रबन्ध का विश्लेषण करने के लिये आप किन-किन तकनीकों का उपयोग करेंगे?

उत्तर- प्राप्तियों का आशय देनदारों एवं प्राप्त-प्रपत्रों के योग से है। प्राप्तियां उधार विक्रय का परिणाम होती है तथा इनमें व्यवसाय के कार्यशील-कोष का एक महत्वपूर्ण भाग निरन्तर विनियोजित होता है। प्राप्तियों के प्रबन्ध का सीधा सम्बन्ध उधार विक्रय एवं वसूली नीतियों से होता है। नकद विक्रय व्यवसाय में अति शीघ्र हो जाता है लेकिन उधार विक्रय की स्थिति में माल के विक्रय तथा रोकड़ के आगम के समय का अन्तराल होता है। इस अन्तराल की अवधि एवं उधार विक्रय की मात्रा के अनुसार ही यह अनुमान लगाया जाता है कि कार्यकारी कोष का कितना भाग उधार विक्रय के फलस्वरूप उत्पन्न प्राप्तियों में फंसा रहेगा। इसलिये प्रबन्धकों का यह उद्देश्य होना चाहिये कि प्राप्तियों में विनियोजित कोषों का भाग न

तो आवश्यक रूप से अधिक हो और न ही अनावश्यक रूप से कम हो, क्योंकि दोनों ही दशाओं में इसका लाभदायकता की दर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि ऐसे विनियोजन की सीमा को अनुकूलतम स्तर पर बनाये रखना ही प्राप्तियों का प्रबन्ध है।

व्यवसाय में माल का क्रय-विक्रय सदैव उधार के आधार पर ही किया जाता है, लेकिन यदि कुछ ग्राहक शीघ्र ही भुगतान करते हैं तो उन्हें इसके लिये नकद छूट दी जाती है। फिर भी अधिकांशतया बेचे गये माल के लिये ग्राहकों से तीस दिन के प्राप्य विपत्र प्राप्त होते हैं। कम्पनी इन प्राप्य बिलों को परिपक्वता से पहले भी बैंकों से बट्टे पर भुना सकती है, लेकिन ऐसा तभी किया जा सकता है जबकि प्रबन्धकों को नकद राशि की आवश्यकता हो। नहीं तो बेचे गये माल के बदले में प्राप्य-विपत्रों में कम्पनी की धनराशि फंसती जाती है और वसूली के द्वारा समय आने पर ये प्राप्य-विपत्र रोकड़ में बदलते रहते हैं। यद्यपि प्रत्येक कम्पनी की विक्रय नीति अपनी कुछ विशेषताओं से युक्त हो सकती है लेकिन व्यापार में सदैव सभी कंपनियां प्राप्य विपत्रों के आधार पर ग्राहकों को माल देने की सुविधा प्रदान करती है।

उधार या साख नीति– प्राप्य-विपत्रों के प्रबन्ध के लिये जो भी नीति प्रबन्धकों द्वारा निर्धारित की जाये वह न तो बहुत उदार होनी चाहिये और न ही बहुत अधिक कठोर होनी चाहिये। उधार नीति के द्वारा एक ओर विक्रय की मात्रा तो बढ़ जाती है तथा लाभ में वृद्धि की सम्भावना भी दिखायी देने लगती है। लेकिन दूसरी ओर ऐसी नीति कुल सम्पत्ति की तुलना में प्राप्य-विपत्रों में फंसी पूँजी के अनुपात को बढ़ा देगी और जोखिम बढ़ जायेगा तथा अनेक ग्राहक परिपक्वता पर विपत्रों का भुगतान नहीं कर सकेंगे। व्यवसाय में सामान्य रूप से होने वाला नकद आगम कम हो जायेगा। इस प्रकार प्रबन्धकों के सामने एक विषम स्थिति उत्पन्न हो सकती है जो लाभ के बजाये घाटे का कारण बन सकती है। इसलिये कम्पनी की उधार नीति गत्यात्मक होनी चाहिये जो उसकी विक्रय मात्रा तथा लाभदायकता में वृद्धि कर सके।

इसलिये यदि उधारी पर विक्रय की नीति चित्र का एक पहलू है तो उधारी की वसूली की नीति चित्र का दूसरा पहलू है। इसके विपरीत, यदि अत्यन्त कठोर विक्रय नीति का पालन किया जाता है, तथा विक्रय भुगतान एवं वसूली की कठोर शर्तें निर्धारित की जाती हैं तो इससे कुल सम्पत्ति की तुलना में विपत्रों में लगी रकम की मात्रा का अनुपात अवश्य कम हो जायेगा तथा ऋणों के डूबने की सम्भावना और जोखिम की मात्रा भी कम हो जायेगी लेकिन दूसरी ओर ऐसी नीति कई बहुमूल्य ग्राहकों को तोड़ देगी, और विक्रय की मात्रा घट जायेगी तथा लाभ में गिरावट आ जायेगी।

उधार विक्रय की नीति को निर्धारित करने से पूर्व प्रबन्धकों को उधार की शर्तों पर विचार करना होगा। सीमित साधनों वाले ग्राहकों के लिये कुछ उदार शर्तें निर्धारित करनी होंगी जिससे कि वे माल का पर्याप्त स्टॉक रख सकें। साथ ही माल के उत्पादन में तेजी लानी होगी जिससे कि ग्राहक को भी नियमित रूप से माल पहुंचता रहे और यदि लाभ की दर ऊंची हैं तो कुछ जोखिम उठाकर भी विक्रय बढ़ाकर लाभ में और वृद्धि की जा सकती है। यदि कम्पनी स्थापित क्षमता का पूरा उपयोग कर रही है और निकट भविष्य में स्थापित क्षमता में वृद्धि करने का कोई प्रस्ताव नहीं है तथा बाजार में प्रतियोगिता भी सामान्य है तो फिर कम्पनी अपनी शर्तों पर माल बेच सकती है तथा कठोर विक्रय एवं वसूली नीति का अनुपालन कर सकती है।

यहां पर यह उल्लेखनीय है कि बदलते हुये व्यावसायिक वातावरण के कारण प्रबंधकों को समय-समय पर अपनी विक्रय एवं उधार नीति का पुनरावलोकन करना होगा तथा उसे पुनर्निर्धारित करना होगा।

उधार विक्रय नीति के पहलू– उधार विक्रय नीति का प्रतिपादन करते समय निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिये–

(1) साख के प्रमाप– किसी फर्म द्वारा साख के प्रमापों का निर्धारण किस प्रकार किया जाये? सम्भावित क्रेताओं या ग्राहकों की साख क्षमता का आकलन करते समय यह सवाल प्रबन्धक के मस्तिष्क में उठता है। आन्तरिक तथा वाह्य परिस्थितियों में प्रबन्धकों द्वारा अपने विवेक एवं विकल्प का प्रयोग करते समय ऊंचे प्रमाप या नीचे प्रमाप निर्धारित किये जा सकते हैं। यदि प्रमाप बहुत ऊंचे हैं तो विक्रय एवं लाभ का स्तर वांछित बिन्दु तक नहीं प्राप्त किया जा सकेगा, क्योंकि कठोर प्रमापों के कारण अनेक विद्यमान और सम्भावित ग्राहक टूट कर अन्यत्र माल का क्रय करना प्रारम्भ कर देंगे जबकि इसके विपरीत, साख के ढीले प्रमापों के कारण विक्रय एवं लाभ की मात्रा में कुछ समय के लिये वृद्धि हो सकती है, लेकिन अन्ततोगत्वा इसके कारण देरी से भुगतान करने वाले या भुगतान न करने वाले ग्राहकों की संख्या बढ़ जायेगी जो डूबते ऋणों के कारण होने वाली हानि का कारण बनेगी। इसलिये साख के प्रमापों का निर्धारण व्यावहारिकता के लिये ही किया जाना चाहिये।

(2) साख की शर्तें– साख की शर्तें के बारे में दो बातों पर विचार किया जाता है– साख की अवधि तथा नकद छूट। साख की अवधि समय का वह अन्तराल है जिसके लिये साख की सुविधा दी गयी है। इस विषय में फर्मों द्वारा उद्योग विशेष या बाजार विशेष में प्रचलित चलन का परिपालन किया जाता है। साख की पूरी अवधि से पहले भुगतान करने के लिये क्रेताओं को उत्प्रेरित करने के उद्देश्य से सदैव नकद छूट देने का चलन है। इससे क्रेता द्वारा देय राशि में कुछ कमी हो जाती है।

(3) वसूली नीति– वसूली नीति के प्रतिपादन के दो प्रमुख उद्देश्य होने चाहिये–

1. नीति अति देय-खातों की रकम को वसूल करने में सफल हो जिससे डूबते ऋणों की मात्रा को न्यूनतम किया जा सके।
2. वसूली नीति ऐसी होनी चाहिये जिसके द्वारा विलम्ब से भुगतान करने वाले ग्राहकों प्रदान की जाने वाली व्यापार साख पर रोक लगायी जा सके।

प्राप्य-विपत्रों का विश्लेषण– सदैव एक महीने के प्राप्य बिलों के आधार पर प्रबंधक माल का उधार विक्रय करते हैं, और वे यह सोचकर चलते हैं कि कुछ ग्राहक यदि भुगतान में विलम्ब भी करेंगे तो अगले माह के बजाये दो माह में या अधिक से अधिक तीन माह में पिछले बिलों का भुगतान अवश्य कर देंगे। तीन माह से ऊपर के बकाया बिलों को संदेहयुक्त माना जा सकता है और उनकी वसूली के लिये जो भी कार्यवाही उचित समझी जाये, वह की जा सकती है। इसलिये यदि कम्पनी का समस्त उधार विक्रय प्राप्य-विपत्रों के आधार पर होता है तो तीन माह की उधार विक्रय राशि और किसी तिथि को प्राप्य-विपत्रों की बकाया राशि में अनुपात ज्ञात किया जा सकता है। इसलिये विश्लेषकों द्वारा इन मान्यताओं को ध्यान में रखकर ही किसी निष्कर्षों पर पहुंचना होगा।

प्राप्तियों की आवर्ती– इसे ऋणी आवर्ती के नाम से जाना जाता है। यह अनुपात एक ओर विक्रय तथा दूसरी ओर प्राप्तियों के बीच के सम्बन्ध को स्पष्ट करता है।

[illegible]

प्रश्न–(1) कार्यशील पूँजी से क्या आशय है? इसकी परिभाषा दीजिये।

उत्तर– कार्यशील पूँजी से आशय कुल पूँजी के उस भाग से है जो कि नियमित रूप से व्यावसायिक क्रियाओं के सञ्चालन में प्रयोग की जाती है। इसका प्रयोग कार्यकर्ताओं की मजदूरी व वेतन, विज्ञापन, कच्ची सम्पत्ति के क्रय, उत्पादन व्यय तथा अन्य सामान्य खर्चों के भुगतान में किया जाता है। कार्यशील पूँजी का कार्यकाल स्थायी पूँजी की अपेक्षा कम होता है। इसलिए इसे अल्पकालीन अथवा अस्थायी पूँजी भी कहा जाता है।

मीड, मॉरिस एवं फीनर के अनुसार– "कार्यशील पूँजी का आशय चालू सम्पत्तियों से है।"

सेलवर्मन के अनुसार– "कार्यशील पूँजी सामान्यतः चालू दायित्वों के ऊपर चालू सम्पत्तियों के आधिक्य के रूप में परिभाषित किया जाता है।"

प्रश्न–(2) कार्यशील पूँजी की मात्रा को निर्धारित या प्रभावित करने वाले तत्व बताइये।

उत्तर– कार्यशील पूँजी की मात्रा को निर्धारित अथवा प्रभावित करने वाले प्रमुख तत्व या घटक निम्नलिखित हैं–

(1) व्यवसाय का स्वरूप– कार्यशील पूँजी की मात्रा को प्रभावित करने वाला सबसे प्रमुख तत्व व्यवसाय का स्वरूप है। रेलवे, सड़क, गैस आदि जनोपयोगी तथा सेवा संस्थाओं में निरन्तर माल और नकद विक्रय होने से कम कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होती है। इनकी माल सदा बना रहने से रोकड़ प्रवाह निरन्तर होता रहता है। इसके विपरीत, विलासिता तथा फैशन प्रधान उत्पादन करने वाली संस्थाओं एवं व्यापारिक संस्थाओं में अधिक कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होती है। इनकी परिवर्तनशील माँग होने से स्टॉक में भी अत्यधिक विनियोग करना पड़ता है।

(2) व्यवसाय का आकार– एक संस्था की कार्यशील पूँजी की मात्रा उसके व्यवसाय के आकार से सीधे सीधे जुड़ी होती है। छोटे आकार के व्यवसाय हेतु नकद रोकड़ प्राप्य बिल एवं स्टॉक के लिए अपेक्षाकृत कम पूँजी की आवश्यता होती है तथा बड़े आकार के व्यवसाय हेतु अधिक कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होती है।

(3) उत्पादन प्रक्रिया की अवधि– उत्पादन प्रक्रिया यदि अधिक समय लेने वाली होती है तो स्वाभाविक रूप से कच्चे माल को निर्मित माल का रूप देने में अधिक समय, लागत तथा श्रम लगता है जिसके फलस्वरूप अधिक कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होती है। लेकिन यदि उत्पादन प्रक्रिया की अवधि छोटी होती है तो कम मात्रा में कार्यशील पूंजी की आवश्यकता होती है।

(4) कार्यशील पूँजी–चक्र– कार्यशील पूँजी–चक्र कच्ची सामग्री के क्रय से शुरू होता है और निर्मित माल के रूपान्तरण तथा निर्मित माल के विक्रय से रोकड़ की वसूली के साथ खत्म होता है। कार्यशील पूंजी–चक्र की अवधि जितनी लम्बी होगी, कार्यशील पूंजी की आवश्यकता भी उतनी ही अधिक होगी।

(5) क्रय की शर्तें एवं रीतियां– कच्चा माल तथा अन्य सामान किन महीनों में एवं किन शर्तों पर क्रय किया जाता है इसका भी सीधा प्रभाव कार्यशील पूँजी की मात्रा पर पड़ता है। यदि कच्चे माल की पूरे वर्ष की आवश्यकता को फसल के ही समय एक साथ खरीद कर रख लिया जाता है तो कार्यशील पूँजी की अधिक आवश्यकता होगी। लेकिन यदि पूरे वर्ष स्थानीय बाजार से ही कच्चा माल खरीदा जाता है तो फिर कम कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार से यदि कच्चे माल को विक्रेता से लम्बी अवधि की उधारी पर खरीदा जाता है तो

उत्पादन के पश्चात् बेचकर कच्चे माल का भुगतान किया जा सकता है। लेकिन यदि कच्चा माल नकद खरीदना पड़ता है तो फिर अधिक कार्यशील पूँजी की व्यवस्था करनी होगी।

प्रश्न–(3) कार्यशील पूँजी के प्रकार बताइये।

उत्तर– प्रकार– कार्यशील पूँजी के निम्नलिखित प्रकार हैं–

(1) अवधारणा के आधार पर–

(i) **सकल कार्यशील पूँजी**– इसमें चालू सम्पत्ति में नकद रोकड़, बैंक में जमा, शेष स्टॉक, देनदार एवं पूर्वदत्त भुगतान शामिल किये जाते हैं।

(ii) **निवल कार्यशील पूँजी**– इसका आशय चालू दायित्वों के ऊपर चालू सम्पत्तियों के आधिक्य से होता है। कई आधुनिक विद्वान निवल कार्यशील पूँजी को ही कार्यशील पूँजी मानते हैं।

(2) **आवश्यकताओं के आधार पर**– गेस्टनबर्ग ने आवश्यकताओं के आधार पर कार्यशील पूँजी को दो भागों में विभाजित किया है–

(i) **स्थायी अथवा नियमित कार्यशील पूँजी**– यह व्यवसाय के सामान्य सञ्चालन के लिये नियमित रूप से चालू सम्पत्तियों के रूप में स्टॉक में रखी जाती है। जैसे कच्चे माल की न्यूनतम मात्रा, स्टॉक में तैयार माल तथा बैंक में न्यूनतम शेष राशि आदि।

(ii) **परिवर्तनशील या मौसमी कार्यशील पूँजी**– व्यापार को वर्ष के कुछ महीनों में व्यापार की अधिकता के कारण अधिक कार्यशील पूँजी की आवश्यकता भी हो सकती है। जैसे– अनाज के आढ़तिये व्यापारियों को फसल आने के मौसम में अधिक कार्यशील पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। चीनी–उद्योग तथा ऊनी–वस्त्र उद्योग में भी ऐसी ही आवश्यकता पड़ती है।

प्रश्न–(4) रोकड़– स्तर को निर्धारित करने वाले तत्व बताइये।

उत्तर– एक उपक्रम के पास इतनी रोकड़ आवश्यक रूप से होनी चाहिये कि उसकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके तथा आवश्यकता पड़ने पर अप्रत्याशित घटनाओं का सामना किया जा सके। किसी भी उपक्रम में रोकड़ शेष को निर्धारित करने वाले घटक निम्नलिखित हो सकते हैं–

(1) **उत्पादन प्रक्रिया**– यदि उपक्रम की उत्पादन प्रक्रिया लम्बी या अधिक समय लेने वाली है तो अधिक रोकड़ रखने की आवश्यकता होगी, लेकिन यदि उत्पादन प्रक्रिया छोटी या कम समय लेने वाली है तो कम रोकड़ की आवश्यकता होगी।

(2) **उत्पादन नीति**– यदि उपक्रम अपना उत्पादन वर्तमान माँग के अनुरूप ही करता है तथा कच्ची सामग्री आदि उतनी ही मात्रा में क्रय करता है, जो केवल वर्तमान माँग के लिये आवश्यक है, तो उस उपक्रम को अपेक्षाकृत कम रोकड़ की आवश्यकता होगी, जो एक निश्चित अवधि की उत्पादन माँग के बराबर सामग्री भण्डार में रखने की नीति अपनाती है।

(3) **बैंकों से सम्बन्ध**– यदि उपक्रम के बैंकों से अच्छे सम्बन्ध है तथा अधिविकर्ष आदि की सुविधा उपलब्ध है तो कम रोकड़ रखने की आवश्यकता होगी।

(4) **माल की माँग की प्रकृति**– यदि उपक्रम के माल की माँग बाजार में बनी रहती है तथा माल रोकड़ में या कम समय की उधारी पर बेचा जाता है तो कम रोकड़ की आवश्यकता होगी।

(5) **प्रबन्धकीय नीति**– उपक्रम द्वारा रखे जाने वाले रोकड़ की मात्रा प्रबन्ध की तरलता पसंदगी, जोखिम लेने की क्षमता, उधार क्रय एवं विक्रय नीति तथा स्कन्ध की मात्रा एवं विनियोग सम्बन्धी नीतियों पर निर्भर करती है। यदि प्रबन्धक रोकड़ के सम्बन्ध में सुदृढ़ योजना बनाते हैं तो कम रोकड़ की आवश्यकता होती है, जबकि इसके विपरीत योजना के अभाव में अधिक रोकड़ की आवश्यकता होगी।

वस्तुनिष्ठ प्रश्नोत्तर

इकाई-1

(1) 'वित्तीय प्रबन्ध वित्तीय निर्णय लेने का वह क्षेत्र है जो व्यक्तिगत उद्देश्य एवं उपक्रम के लक्ष्यों में एकरूपता स्थापित करता है।' यह कथन किसका है?
(अ) इराविन फ्रैण्ड (ब) प्रो. सोलोमन
(स) वेस्टन ब्रीघम (द) जे. एस. मैसी।
उत्तर– (स) वेस्टन ब्रीघम।

(2) 'वित्तीय प्रबन्ध का आशय वित्त क्रियाओं पर नियोजन व नियन्त्रण की क्रिया को लागू करने से होता है।' यह कथन किसका है?
(अ) हॉवर्ड एव अप्टन (ब) वेस्टन तथा ब्रीघम
(स) जे. एफ. ब्राउले (द) जे. एस.मैसीं।
उत्तर– (अ) हॉवर्ड एवं अप्टन।

(3) 'वित्तीय प्रबन्ध व्यवसाय की वह संचालनात्मक क्रिया है जो कुशल संचालन के लिये आवश्यक वित्त को प्राप्त करने तथा उसका प्रभावशाली प्रयोग करने के लिये उत्तरदायी होती है' यह कथन किसका है?
(अ) इराविन फ्रैण्ड (ब) वेस्टन ब्रीघम
(स) जे. एफ. ब्राउले (द) जे. एस. मैंसी।
उत्तर– (द) जे. एस. मैंसी।

(4) वित्तीय निर्णय के प्रकार होते हैं–
(अ) 2 (ब) 3
(स) 4 (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।
उत्तर– (ब) 3

(5) वित्तीय प्रबन्ध के मुख्य कार्य हैं–
(अ) वित्तीय नियोजन (ब) वित्तीय प्राप्त व्यवस्था
(स) शुद्ध लाभ निविधान (द) उपर्युक्त सभी।
उत्तर– (द) उपरोक्त सभी।

(6) वित्तीय प्रबन्ध है–
(अ)कला (ब) विज्ञान
(स) कला एवं विज्ञान (द) कोई नहीं।
उत्तर– (अ) कला।

(7) वित्तीय निर्णय होते हैं–
(अ) विनियोग निर्णय (ब) वित्त–पूर्ति निर्णय
(स) लाभांश निर्णय (द) उपर्युक्त सभी।
उत्तर– (द) उपर्युक्त सभी।

(8) सुदृढ़ वित्तीय नियोजन के लक्षण हैं–
(अ) सरलता (ब) तरलता
(स) मितव्ययिता (द) उपर्युक्त सभी।
उत्तर– (द) उपर्युक्त सभी।

(9) वित्तीय प्रबन्ध के उद्देश्य हैं–
(अ) लाभ अधिकरण उद्देश्य (ब) मूल्य अधिकरण उद्देश्य
(स) उपरोक्त दोनों (द) इनमें से कोई नहीं।
उत्तर– (स) उपरोक्त दोनों।

(10) यदि व्यवसाय के पुस्तक मूल्य की तुलना में व्यवसाय का वास्तविक मूल्य कम हो तो यह स्थिति कहलायेगी–
(अ) अति पूँजीकरण (ब) अल्प पूँजीकरण
(स) अनुकूलतम पूँजीकरण (द) इनमें से कोई नहीं।
उत्तर– (अ) अति पूँजीकरण।

इकाई-2

(1) संयुक्त लीवरेज का सूत्र है–
(अ) $\frac{C}{EBT}$ (ब) $\frac{C}{ETB}$
(स) $\frac{C}{TEB}$ (द) इनमें से कोई नहीं।
उत्तर– (अ) $\mathbf{\frac{C}{EBT}}$

(2) 'उत्तोलक का अभिप्राय वित्त प्रबन्धक में स्थायी पूँजी लागत की पूर्ति अथवा भुगतान करने से होता है।' यह कथन है–
(अ) इजरा सोलोमन (ब) डेविड टेक
(स) एम. सी. कुच्छल (द) एडम।
उत्तर– (स) एम. सी. कुच्छल।

(3) इनमें से कौन–सा लीवरेज का प्रकार नहीं है?
(अ) वित्तीय लीवरेज (ब) लाभ लीवरेज
(स) परिचालन लीवरेज (द) संयुक्त लीवरेज।
उत्तर– (ब) लाभ लीवरेज।

(4) वित्तीय लीवरेज का सूत्र है–
(अ) $FL = \frac{EBIT}{INT}$ (ब) $FL = \frac{EBIT}{EBIT}$
(स) $FL = \frac{EBIT}{EBT}$ (द) इनमें से कोई नहीं।
उत्तर– (स) $\mathbf{FL = \frac{EBIT}{EBT}}$

(5) वित्तीय उत्तोलक समानार्थी माना जाता है–
(अ) पूँजी पर व्यापार का (ब) समता पर व्यापार का
(स) साख पर व्यापार का (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।
उत्तर– (ब) समता पर व्यापार का।

(6) 'लीवरेज' शब्द को लिया गया है–
(अ) लीवर से (ब) अभियान्त्रिकी से
(स) उपरोक्त दोनों से (द) इनमें से कोई नहीं।
उत्तर– (ब) अभियान्त्रिकी से।

(7) 'लीवरेज' एक ऐसा उपकरण है जिसका प्रयोग होता है–
(अ) अधिक (ब) कम
(स) एकतरफा (द) दोतरफा।
उत्तर– (द) दोतरफा।

(8) वित्तीय लीवरेज वस्तुतः किसके समानार्थी माना जाता है?
(अ) उत्तोलक (ब) ट्रेडिंग ऑन इक्विटी
(स) ट्रेडिंग ऑफ पूर्वीक्रम के (द) उपरोक्त सभी।
उत्तर– (ब) ट्रेडिंग ऑन इक्विटी।

(9) 'वित्तीय दंतिकरण साधारण अंशधारियों को मिलने वाली प्रत्यय–दर के कुल पूँजीकरण की प्रत्याय–दर के साथ अनुपात को कहते हैं।' यह कथन है–
(अ) सोलोमन इजरा (ब) जे. ई. वाल्टर
(स) डेविड (द) इनमें से कोई नहीं।
उत्तर– (अ) सोलोमन इजरा।

(10) विक्रय के परिचालन के लाभ में विषम रूप में परिवर्तन प्रवृत्ति कहलाती है–
(अ) संयुक्त उत्तोलक (ब) एकाकी उत्तोलक
(स) परिचालन उत्तोलक (द) इनमें से कोई नहीं।
उत्तर– (स) परिचालन उत्तोलक।

इकाई-3

(1) 'पूँजी बजटन प्रस्तावित पूँजी व्ययों के करने और अर्थ प्रबन्धन की दीर्घकालीन नियोजन है।' यह कथन है–
(अ) जे. एस. मैसी (ब) चार्ल्स टी. होर्नग्रीन
(स) इरविन फ्रैण्ड (द) वेस्टन ब्रीघम।
उत्तर– (ब) चार्ल्स टी. होर्नग्रीन।

(2) पूँजी बजटिंग में कौन–सी विधि का प्रयोग नहीं होता है?
(अ) अदायगी अवधि विधि (ब) पूर्व भुगतान अदायगी अवधि विधि
(स) औसत प्रत्याय दर विधि (द) लाभांश निर्धारण विधि।
उत्तर– (द) लाभांश निर्धारण विधि।

(3) मशीन की लागत 2,00,000 रु. वार्षिक तथा रोकड़ अन्तर्प्रवाह 40,000 रु. प्रतिवर्ष है तो अदायगी अवधि होगी–
(अ) 2 वर्ष (ब) 3 वर्ष
(स) 4 वर्ष (द) 5 वर्ष।
उत्तर– (द) 5 वर्ष।

(4) मशीन की लागत 60,000 रु. कार्यशील जीवन वर्ष 6 वर्ष हैं। अवशेष मूल्य 8,000 रु. रोकड़ अन्तर्प्रवाह 16,000 रु. प्रतिवर्ष, पुनर्भुगतान अवधि क्या होगी?
(अ) 4.5 वर्ष (ब) 3.25 वर्ष
(स) 3.5 वर्ष (द) 4 वर्ष।
उत्तर– (ब) 3.25 वर्ष।

(5) एक परियोजना की लागत 3,00,000 रु. है कर के बाद किन्तु ह्रास के पूर्व रोकड़ अर्जन प्रतिवर्ष 50,000 रु. है अदायगी अवधि होगी–
(अ) 3 वर्ष (ब) 4 वर्ष
(स) 5 वर्ष (द) 6 वर्ष।
उत्तर– (द) 6 वर्ष।

(6) **Net Present value** का सूत्र है–
(अ) Investment-Present value (ब) Present value-Investment
(स) Investment ÷ Present value (द) Investment × Present value
उत्तर– (ब) **Present value- Investment**

(7) आधुनिक व्यावसायिक प्रबन्ध में पूँजी बजटिंग का अभिन्न अंग है–
(अ) वित्तीय नियोजन (ब) वित्तीय नियन्त्रण
(स) वित्तीय पूर्वानुमान (द) उपर्युक्त सभी।
उत्तर– (द) उपर्युक्त सभी।

(8) 'पूँजी–बजटिंग पूँजीगत व्ययों के लिये विभिन्न विकल्पों के सृजन, मूल्यांकन, चयन एवं अनुवर्ती कार्यों की एक प्रक्रिया है।' यह कथन है–
(अ) एल. जे. मितमन (ब) जे. एल. मैसी
(स) इरविन फ्रैण्ड (द) इनमें से कोई नहीं।
उत्तर– (अ) एल. जे. मितमन।

(9) निम्न में कौन–सी अमूर्त सम्पत्ति नहीं है?
(अ) पेटेण्ट (ब) रहतिया
(स) कॉपीराइट (द) ख्याति।
उत्तर– (ब) रहतिया।

इकाई-4

(1) समता अंशों की लागत का कर होता है–
(अ) पूर्व (ब) पश्चात्
(स) सम्भावना (द) इनमें से कोई नहीं।
उत्तर– (ब) पश्चात्।

(2) पूँजी की लागत पर विचार करना भी अत्यन्त आवश्यक होता है–
(अ) आय (ब) जोखिम
(स) नियन्त्रण (द) आय, जोखिम एवं नियन्त्रण।
उत्तर– (द) आय, जोखिम एवं नियन्त्रण।

(3) 'पूँजी की लागत अर्जनों की न्यूनतम अपेक्षित दर अथवा पूँजीगत व्ययों के लिये कटौती दर है।' यह कथन है–
(अ) सोलोमन (ब) एम. जे. गोर्डन
(स) हेम्पटन (द) इनमें से कोई नहीं।
उत्तर– (अ) सोलोमन।

(4) लाभांश का भुगतान कितने दिन के अन्दर होना चाहिये?
(अ) 30 (ब) 32
(स) 40 (द) 42
उत्तर– (द) 42

(5) अंशधारियों की संख्या अधिक होने के कारण कौन–सी लाभांश नीति नहीं अपनायी जानी चाहिये?
(अ) निम्न लाभांश नीति (ब) मध्यम लाभांश नीति
(स) कठोर लाभांश नीति (द) कोई नहीं।
उत्तर– (स) कठोर लाभांश नीति।

(6) नियमित लाभांश नीति के अन्तर्गत लाभांश की दर हमेशा कैसी रहती है?
(अ) घटती (ब) बढ़ती
(स) स्थिर (द) उपर्युक्त सभी।
उत्तर– (स) स्थिर।

(7) समता अंशों में लाभांश प्राप्ति विधि ज्ञात की जा सकती है–
(अ) $KP = \frac{DPS}{NP} \times 100$ (ब) $KE = \frac{DPS}{NP} \times 100$
(स) $Kd = \frac{1}{NP} \times 100$ (द) $Ce = \frac{EPS}{NP} \times 100$
उत्तर– (ब) $\mathbf{KE = \frac{DPS}{NP} \times 100}$

(8) पूँजी की लागत वह न्यूनतम प्रत्याय–दर होती है जिसे एक फर्म कोई विनियोग करने के लिये एक शर्त के रूप में माँग करती है। यह कथन है–

(अ) प्रो. सोलोमन (ब) मिल्टन एम. स्पेन्सर
(स) डयूरेन्ड (द) हेम्पटन।
उत्तर– (द) मिल्टन एम. स्पेन्सर।

(9) प्रबन्धकों द्वारा किया गया निर्णय तब ही शुद्ध वर्तमान मूल्य होगा जब वह–
(अ) ऋणात्मक हो (ब) धनात्मक हो
(स) स्वतन्त्र हो (द) उपरोक्त में से कोई नहीं।
उत्तर– (ब) धनात्मक हो।

(10) समता अंशों की लागत होती है–
(अ) पूर्व (ब) पश्चात्
(स) उपरोक्त दोनों (द) कोई नहीं।
उत्तर– (ब) पश्चात्।

(11) किसी भी संस्था के लिये न्यूनतम प्रत्याय दर कायम रखना नहीं होता है–
(अ) आवश्यक (ब) अनावश्यक
(स) स्थिर (द) अस्थिर।
उत्तर– (ब) अनावश्यक।

(12) कम्पनी अपने व्यापार के लाभ को लाभांश के रूप में वितरित न करके उसका कुछ हिस्सा व्यवसाय में पुनर्विनियोग कर देती है। इसको कहते हैं–
(अ) व्यवसाय का लाभ बढ़ना (ब) लाभ का पुनर्विनियोग
(स) हानि होना (द) कोई नहीं।
उत्तर– (ब) लाभ का पुनर्विनियोग।

(13) लाभों के पुनर्विनियोग से प्राप्त होता है–
(अ) अंशधारियों को लाभ (ब) कम्पनी को लाभ
(स) समाज को लाभ (द) उपरोक्त सभी को लाभ।
उत्तर– (द) उपरोक्त सभी को लाभ।

इकाई-5

(1) कार्यशील पूँजी की अवधारणा है–
(अ) परिणात्मक अवधारणा (ब) गुणात्मक अवधारणा
(स) अन्य अवधारणा (द) उपरोक्त सभी।
उत्तर– (द) उपरोक्त सभी।

(2) 'कोषों की कोई भी प्राप्ति, जो चालू सम्पत्तियों में वृद्धि करती है, वह कार्यशील पूँजी में भी वृद्धि करती है, क्योंकि ये दोनों एक ही हैं।' यह परिभाषा है–
(अ) मैकमुलन (ब) बोनविले
(स) सोलोमन (द) इनमें से कोई नहीं।
उत्तर– (ब) बोनविले।

(3) कार्यशील पूँजी के प्रबन्ध के लिये कौन–सी नीति को अपनाया जाता है?

(अ) रुढ़िवादी नीति (ब) सामान्य नीति
(स) उप-नीति (द) उपरोक्त सभी।

उत्तर– (द) उपरोक्त सभी।

(4) 'कार्यशील पूँजी प्रबन्ध विविध चालू सम्पत्तियों, जैसे– रोकड़ एवं विपणन प्रतिभूतियों, प्राप्त विपत्र एवं रहतिया के प्रशासन से सम्बन्धित होता है।' यह कथन है–
(अ) लघाटे (ब) जे. सी. न्यूमर्क
(स) जेम्स हॉर्न (द) इनमें से कोई नहीं।

उत्तर– जेम्स हॉर्न।

(5) अ, व, स विश्लेषण में मदों के वर्गीकरण का आधार है–
(अ) सामग्री का विनियोग मूल्य (ब) सामग्री का अविनियोग मूल्य
(स) प्रयुक्त सामग्री की मात्रा (द) उपरोक्त सभी।

उत्तर– (अ) सामग्री का विनियोग मूल्य।

(6) व्यवसाय में लगी हुई सम्पत्तियों के भाग होते हैं–
(अ) एक (ब) दो
(स) तीन (द) चार।

उत्तर– (ब) दो।

(7) कार्यशील पूँजी का सूत्र होता है–
(अ) चालू सम्पत्ति–चालू दायित्व (ब) चालू दायित्व–चालू सम्पत्ति
(स) स्थिर सम्पत्ति-स्थिर दायित्व (द) स्थिर दायित्व– स्थिर सम्पत्ति।

उत्तर– (अ) चालू सम्पत्ति– चालू दायित्व।

(8) किसको चालू सम्पतियों में शामिल नहीं किया जाता है?
(अ) देनदार (ब) रोकड़
(स) स्कन्ध (द) प्रारम्भिक व्यय।

उत्तर– (द) प्रारम्भिक व्यय।

(9) 'इनवेण्ट्री एक ऐसा उपयुक्त साधन है जो आर्थिक रूप से मूल्यवान होता है।' यह कथन है–
(अ) जेम्स हॉर्न (ब) मोक्स
(स) जोई. वाई (द) इनमें से कोई नहीं।

उत्तर– (ब) मोक्स।

(10) इनवेण्ट्री को कितने भागों में विभाजित किया जाता है?
(अ) 2 (ब) 3
(स) 4 (द) 5

उत्तर– (द) 5

(11) यदि तरल सम्पत्तियाँ 70,000 रु. की हैं तथा कुल चालू सम्पतियाँ 1,00,000 रु. की हैं, तब स्टॉक की राशि होगी–
(अ) 10,000 रुपये (ब) 30,000 रुपये
(स) 1,70,000 रुपये (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

उत्तर– (ब) 30,000 रुपये।